आरोग्य-विज्ञान

लेखक—

हनूमानप्रसाद शर्म्मा, वैद्यशास्त्री

प्रकाशक—

आदर्श-ग्रंथमाला

दारागंज, प्रयाग

र संस्करण } सम्वत् १९३२ { मूल्य १।)

प्रकाशक—
उमापति चतुर्वेदी, हिन्दी-भूषण
आदर्श-ग्रंथमाला
दारागंज, प्रयाग

मुद्रक—
विजयबहादुरसिंह, बी० ए०
महाशक्ति-प्रेस
बुलानाला, बनारस सिटी

भूमिका

सभ्यता के इस विकास-युग में वैज्ञानिक अन्वेषण की सहायता से मानवजाति ने यद्यपि प्रकृति पर अपनी सत्ता स्थापित करके भौतिक सुख-साधन को अपनी इच्छा के अधीन कर रत्नगर्भावसुन्धरा के उदर में चिरकाल से प्रच्छन्न रहने वाली धनराशि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है; तथापि अहर्निश श्रम, उद्योग और अध्यवसाय करके वह वास्तविक सुख का उपभोग करने में सर्वथा असमर्थ हो रही है। विलासिता का अखण्ड साम्राज्य स्थापित एवं विस्तृत हो रहा है।

आधुनिक विज्ञान की प्रगति ने विश्व के जड़ और चेतन— किसी भी वस्तु को अपने प्रभाव से वञ्चित नहीं रखा है। सभी ने विज्ञान का लोहा मान लिया है। आज वे प्राचीन गुफाएँ, झोपड़े और पर्णकुटीर कहाँ दीख पड़ते हैं? उनके स्थान पर आज सुन्दर-सुन्दर गृह, उच्च अट्टालिकाएँ और राज-प्रासाद्-तुल्य भव्य-भवन पृथ्वी के वक्षस्थल की शोभा बढ़ा रहे हैं, उसके

गौरव और संसार के सुख-साधन एवं वैभव के स्मृति-स्तम्भ बन रहे हैं। विज्ञान—कला और सभ्यता की धवल कीर्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर रहा है। किन्तु प्रचुर भौतिक विभूति और ऋद्धि-सिद्धि के प्रस्तुत रहने पर भी आज मानवजाति सच्चे सुख की अनुभूति नहीं प्राप्त कर रही है। यही संसार की सबसे विषम समस्या है। इसी समस्या को हल करने के लिए संसार के बड़े-से-बड़े व्यक्ति अपना तन, मन और धन अर्पित करके वर्षों से असफल चेष्टा कर रहे हैं। वास्तव में मानवजाति की इस असफलता पर बड़ा खेद हो रहा है। एक ओर लोग इस पर गम्भीर विचार कर रहे हैं, दूसरी ओर कुछ लोग इस असफलता को आश्चर्य भरी दृष्टि से देखने में लगे हैं। एक ओर लोग श्रम पर दृढ़ता प्रकट करते हैं, दूसरी ओर वैज्ञानिक लोग सहस्रों मनुष्यों से होने वाले कार्य को सुगमतापूर्वक एक छोटे-से यन्त्र-द्वारा सम्पादित करने में विकल हैं; और किसी सीमा तक वे इस कार्य में सफल प्रयास भी हो रहे हैं। अपनी इस सफलता पर वे फूले नहीं समाते। संसार उनके मस्तिष्क की प्रसंशा किए बिना नहीं रहता; किन्तु यह नहीं समझता कि इसका परिणाम कितना भयंकर और घातक है। मनुष्य का शारीरिक श्रम, उद्योग तथा अध्यवसाय दिन-दिन कम होता जा रहा है, और वह समझता है कि विज्ञान के आधार पर हम संसार के सभी सुख-साधनों का उपभोग कर सकेंगे। किन्तु सरलता से

प्राप्त होने वाले जीवन-सुख-साधन के उपलब्ध होते हुए भी मानवजाति वास्तविक सुख के लिए तरस रही है। उसके लिए अत्यधिक सचेष्ट होकर भी कुछ नहीं पा रही है। इसका एक प्रधान कारण है। वह कारण रहस्यमय है। भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण से उस रहस्य में महदन्तर है।

पाश्चात्य विवेचक विज्ञान के साहाय्य से मनुष्य का शारीरिक श्रम कम कर भौतिक-सुख को द्रव्य से क्रय करना चाहते हैं। किन्तु सुख क्रय की वस्तु नहीं है, और न मनुष्य की यह आशा सफल ही हो सकती है। जिस प्रकृति देवी पर आधिपत्य स्थापित कर पाश्चात्य लोग मानवसमाज को विलासी, अकर्मण्य, उद्योग-विहीन और अपंग बना रहे हैं; भारतीय आचार्य उसी पर अधिकार पूर्ण शब्दों में सदाचारी, कर्मण्य और साहसी होने का सदुपदेश करते हैं; बल्कि इसपर जोर देते हैं कि प्रकृति के अमुक नियमों का अनुसरण करके मानवसमाज वास्तविक सुख का अधिकारी हो सकता है।

पाश्चात्य-सभ्यता ने ही विलासिता को प्रश्रय देकर मनुष्य को अकर्मण्य, निरुद्योगी, कायर और निस्तेज बना दिया है। एकमात्र यही कारण मानवसमाज के पतन का है। इसीसे मानवजाति का स्वास्थ्य दिन-दिन अस्ताचलगामी सूर्य की भाँति अस्त होता जा रहा है। प्रकृति की गोद में पलने वाली भव्य मानव-सन्तान तथा उच्च अट्टालिका पर पीनपयोधारी का

अधरामृत पान करनेवाली दुर्बल एवं कृशांग भारत-सन्तान की तुलना करने से प्रकृत अन्तर प्रत्यक्ष हो सकता है। अथवा एक गँवार और एक आधुनिक शिक्षा प्राप्त नवयुवक की तुलना करने से भी इसका रहस्योद्घाटन हो सकता है। सभ्यता और शिष्टता की डींग हाँकने वाली पाश्चात्य शिक्षा ने सदाचार, संयम और ब्रह्मचर्य के सात्त्विक गुणों की अवहेलना करके मानव समाज को विलासिता के उच्च शिखर पर आसीन कर दिया है।

जो कोई भी मननशील व्यक्ति विश्व की आधुनिक प्रगति का सच्चे हृदय से सिंहावलोकन करेगा, उसे स्पष्ट मालूम हो जायगा कि विज्ञान के नवीन आविष्कारों-द्वारा जब से नव्य यंत्रों का प्रादुर्भाव हुआ है, तब से मानवजाति की स्वतंत्रता, सुख, समृद्धि और शांति की लता पर तुषार-पात हो गया है, तभी से मनुष्य मृग-तृष्णा में पड़ा है। यद्यपि विज्ञान ने भौतिक सुख-साधन की उपलब्धि में अधिक सुगमता उत्पन्न कर दी है, तथापि इसीने असंख्य मनुष्यों को अपंग और निरुद्यमी भी बना दिया है। जहाँ एक व्यक्ति सुख-शय्या पर चैन की वंशी बजा रहा है, वहीं असंख्य कुटुम्ब अन्न-वस्त्र के लिए लालायित हो रहे हैं। साथ ही, भौतिक सुख की स्पर्द्धा में मानवजाति निरन्तर इतनी व्यस्त रहने लगी है कि उसे अपने नित्य-नैमित्तिक कार्यों के सम्पादन के लिए भी अवकाश नहीं मिल रहा है। यही अवकाश का अभाव दिन-प्रति-दिन मानव-स्वास्थ्य को नष्ट

कर रहा है। यदि मानवजाति इसी स्थिति में थोड़े दिनों तक पड़ी रही तो कुछ ही वर्षों में इस दुष्प्रगति का बड़ा ही भयंकर परिणाम देखने को मिलेगा, मनुष्यजाति के शौर्य, पराक्रम और स्वास्थ्य का वही दृश्य दृष्टिगोचर होगा, जो आज हम किसी सिनेमा के चित्रपट पर अथवा किसी नाटक-कम्पनी के रंग-मंच पर कौरव और पाण्डव के युद्ध का देखते हैं।

हम आधुनिक शिक्षा और सभ्यता के विरोधी नहीं हैं; किन्तु इसका क्रीतदास बनना भी हमें अभीष्ट नहीं है। हम प्रकृति के पुजारी हैं। भलाई और बुराई का ज्ञान रखने के पक्षपाती हैं। प्रकृति पर विजय प्राप्त कर सुख-शांति पाने के इच्छुक नहीं; वरन् उसके उपासक बनकर, उसे अपनी जीवनदायिनी शक्ति समझकर, उसके नियमों का पालन करते हुए, संसार-यात्रा करना चाहते हैं। साथ ही यह दृढ़ विश्वास रखते हैं कि भौतिक सुख के अन्वेषण में दिन-रात लिप्त रहकर यदि प्रकृति के नियमों का पालन और नित्य-नैमित्तिक कार्यों का सम्पादन करते हुए जीवन-यत्रा के लिए उद्योगशील रहेंगे—अपने स्नान, ध्यान, व्यायाम और आहार-विहार का यथेष्ट ध्यान रखेंगे, तो बहुत सम्भव है कि हमारी आधुनिक दुरवस्था, दरिद्रता और व्याधि की मात्रा कम हो जायगी; और हम जीवन को अधिक सरल, सरस एवं सुखमय बना सकेंगे।

स्वास्थ्य ही सब सुखों का उद्गम स्थान है। स्वस्थ और सबल

मानवजाति ही सांसारिक सुख-सामग्रियों का उपार्जन कर सकती है और आरोग्य रहने पर ही वह उसका उपभोग भी कर सकती है। सांसारिक वस्तुओं पर मनुष्य का जितना अधिकार है, उतना अन्य किसी प्राणी का नहीं है। जीवन-यात्रा के लिए प्रत्येक व्यक्ति को कठिन श्रम और अध्यवसाय करने की आवश्यकता है। यह व्यक्तिवाद का युग है। वह समय बीत गया जब सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा थी। एक व्यक्ति उपार्जन करता था और दस जनों का पालन होता था। अब तो जीवन-यात्रा इतनी विकट हो गई है, उसमें इतना संघर्ष उत्पन्न हो गया है कि प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को अपने निर्वाह के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। जब अपने ही जीवन-निर्वाह के लाले पड़े हैं, तब दूसरों को आश्रय देना बहुत ही दुष्कर है। ऐसी दशा में कोई भी व्यक्ति अकर्मण्य रह कर सुख की आशा कैसे कर सकता है? जब भारत के उत्कर्ष के दिन थे, तब जीवनोपयोगी सम्पूर्ण विभूतियाँ चरणों पर लोटती रहती थीं। उस समय अकर्मण्यों और निरुद्योगियों का जीवन भी सरलता और सरसता से व्यतीत हो जाता था। किन्तु आज देश परतन्त्र है, यहाँ की उपज पर अपना कोई अधिकार नहीं है, देश के कोने-कोने में उदर-पोषण के लिए हाहाकार मच रहा है, लाखों व्यक्ति भूख के मारे तड़प रहे हैं और क्षुधा की ज्वाला से पीड़ित होकर असमय में ही प्रकृति का ऋण चुकाने चल देते हैं। ऐसी

दशा में विलासिता की ओट में स्वास्थ्य, संयम और सदाचार की अवहेलना करना कहाँ तक न्याय-संगत है! कुछ लोग अशिक्षा को ही इस देश की परतन्त्रता और दुरवस्था का कारण समझते हैं; किन्तु हम देखते हैं कि अब भी जहाँ आधुनिक शिक्षा का प्रसार नहीं है, वहाँ के लोग भले ही विलासमय जीवन की सामग्रियों से वञ्चित क्यों न हों परन्तु इतने सबल एवं हृष्ट-पुष्ट हैं कि आधुनिक शिक्षितवर्ग उन्हें देखकर ईर्ष्या करता और कभी-कभी तो लज्जा से नतमस्तक भी हो जाता है। वे अशिक्षित आज भी सुख और शान्ति का उपभोग कर रहे हैं। वे सदैव प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं। वे जीविकोपार्जन के लिए सतत शारीरिक परिश्रम किया करते हैं। यही कारण है कि, उनका चित्त कभी विलासिता की ओर आकृष्ट ही नहीं होता—उस ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती, उन्हें इतना अवकाश ही कहाँ मिलता है कि वे उस ओर प्रवृत्त हों सके? यही एक ऐसा कारण है, जो उन्हें हर तरह से निर्दोष, निर्विकार और स्वस्थ तथा सदाचारी बनाए रखता है।

हमारी प्राचीन भारतीय चिकित्सा का बहुत बड़ा अंश प्राकृतिक चिकित्सा पर ही अवलम्बित है। किन्तु इधर की नवोद्भूत जनता को बड़े संकट में डाल रही हैं। जनता को इतना ज्ञान नहीं कि वह इस बात का निर्णय कर सके कि कौन चिकित्सा उसके लिए उपयोगी है। अन्त में असमर्थ होकर,

इधर-उधर भटक कर, मनुष्य मृत्यु-मुख में चला जाता है। इसका एक कारण और है। वह यह कि आयुर्वेद शास्त्र की रचना जिस समय हुई थी, उस समय संस्कृत भाषा का यथेष्ट प्रचार था। किन्तु समय परिवर्त्तनशील है। आज संस्कृत का उतना प्रचार नहीं है। साथ ही आयुर्वेद की रचना भी अत्यन्त संक्षिप्त सूत्रों एवं श्लोकों में है, जिसे समझ सकना सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त कठिन है। इसी कारण आज इस महत्वपूर्ण चिकित्सा का ह्रास हुआ है। अतएव इस समय इस चिकित्सा के पुनरुद्धार का यही उपाय हो सकता है कि सरस एवं सुबोध भाषा में जनता के संमुख यह उपस्थित की जाय, जिसमें लोग इसके महत्व को समझें और इससे लाभ उठाने में प्रवृत्त हों।

आज से कई वर्ष पूर्व मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ था। प्रायः सन् १९२६ की बात है कि मैं अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत करने में समर्थ हो सका। यद्यपि मैंने बाल्यकाल से संस्कृत भाषा की ही शिक्षा पाई थी, हिन्दी से विशेष कोई सम्पर्क न था, तथापि सर्वसाधारण के हितार्थ कुछ-न-कुछ लिखना आरम्भ कर दिया। संयोगवश उसी समय मेरा परिचय हिन्दी के सुयोग्य लेखक पंडित गयाप्रसादजी शुक्ल एम० ए० से हुआ जो इन दिनों डी० ए० वी० कालेज (देहरादून) में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। उन्होंने मुझे अत्यधिक उत्साहवर्द्धक शब्दों में कार्यक्षेत्र में अग्रसर होने की सलाह दी। वे प्रायः समय निकाल कर मेरे

लेखों को पढ़ कर अपनी शुभ सम्मति प्रदान करते तथा आवश्यकतानुसार उनका संशोधन भी कर दिया करते थे। इस प्रकार वे मेरे साहित्यिक जीवन के कर्णधार बन गए। फलस्वरूप कुछ ही दिनों में सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के सहारे मैं अपने विचारों को जनता के समक्ष रखने लगा। प्रस्तुत "आरोग्य-विज्ञान" में उन्हीं का संकलन किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ अप्रकाशित लेखों का भी चयन किया है।

इस पुस्तक के बहुत से लेखों को पत्र-पत्रिकाओं में पढ़कर लोगों ने पसन्द भी किया था। कई पत्र-सम्पादकों ने इस तरह के स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुबोध लेखों के लिए विशेष अनुरोध भी किया था। यह बड़े सौभाग्य और आनन्द का विषय है कि जिनके निमित्त ये लेख लिखे गए थे, आज उन्हीं कृपालु पाठकों के लाभार्थ इनका संग्रह भी प्रकाशित हो रहा है। आशा है, बिखरे फूलों की यह माला पाठकों को प्रमुदित करने में समर्थ होगी। प्रस्तुत संग्रह के कुछ लेख दैनिक, 'आज', साप्ताहिक 'मन-सुखा'; मासिक, 'सुधा', 'माधुरी', 'गंगा' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। कुछ लेख अप्रकाशित भी हैं। किन्तु प्रकाशित लेखों का कायाकल्प हो गया है। जिन लोगों ने उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ा होगा, वे भी उन्हें परिवर्त्तित, परिवर्द्धित और परिष्कृत रूप में पाकर सन्तुष्ट होंगे। मैं अपने प्रिय मित्र ठाकुर विजय बहादुरसिंहजी बी० ए० को धन्यवाद दिए बिना नहीं रह

सकता; जिनकी उत्कट प्रेरणा से इन लेखों का पुनः संस्कार और संग्रह हो सका, अन्यथा ये लेख पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में ही पड़े-पड़े कीटभुक हो जाते, पुस्तक के रूप में जनता के संमुख न आ पाते। विश्वास है, विज्ञ पाठक इन लेखों की त्रुटियों पर ध्यान न देकर इनकी उपयोगिता पर ही दृष्टि रखने की कृपा करेंगे।

महाशक्ति-भवन
बुलानाला, काशी
रक्षाबन्धन १९९० वि०

विनीत—
हनूमानप्रसाद शर्मा

विषय-तालिका

आरोग्य-विज्ञान

प्रातःकाल का उठना

मानव जीवन के लिए प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व उठने से बढ़कर अन्य स्वास्थ्यकर कार्य दूसरा नहीं हो सकता। भारतवर्ष में आज परिवर्त्तन हो रहा है। नए-नए पदार्थों एवं आविष्कारों की सृष्टि हो रही है। छोटे-से-बड़े तक सभी कार्यों में संशोधन किया जा रहा है। किन्तु ऐसे विशद विज्ञानयुग में भी अब वे शक्तिशाली मूर्तियाँ नहीं दिखाई पड़तीं, जिनकी चर्चा हमारे इतिहासों एवं आर्य-ग्रंथों में मिलती है। इसका एक मात्र कारण हमारी स्वास्थ्य-सम्बन्धिनी अनभिज्ञता है। आजकल लोग प्राचीन बात के तत्त्व को समझने की चेष्टा नहीं करते, और न उनकी बुद्धि में यह बात आती ही है कि प्राचीन बातों में तत्त्व है। किन्तु यदि विवेचना की जाय, तो स्पष्ट मालूम हो जायगा कि प्राचीन समय की एक-एक बात में गूढ़ महत्व सन्निविष्ट है। केवल एक सूर्योदय से पूर्व प्रातःकाल उठने की बात पर ही विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे जीवन के लिए यह कितनी महत्वपूर्ण बात है।

प्राचीन समय के ऋषि, महर्षि, बड़े-छोटे सभी सूर्योदय से पूर्व उठ जाया करते थे। यही कारण था कि उस समय के लोग शक्तिशाली, पराक्रमी, बलवान और दीर्घजीवी हुआ करते थे। यदि आज किसी नव-शिक्षित के सामने यह बात कही जाय, तो

वह हँसकर उड़ा देगा और उलटे मूर्ख बनाने के लिए तैयार हो जायगा। यदि हम गोस्वामी तुलसीदासजी को इतिहासज्ञ मानें तो कोई हानि न होगी। उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी के विषय में कहा है—

"उठे लखन निसि विगत सुनि, अरुन सिखा धुनि कान।
गुरु ते पहिले जगत-पति, जागे राम सुजान॥"

उक्त दोहे से पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि भगवान श्री रामचन्द्रजी भी सूर्योदय से पूर्व ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाया करते थे। यह ब्राह्ममुहूर्त प्रातःकाल सूर्योदय से चार घंटा पूर्व होती है। भारतीय आध्यात्म ग्रंथों में भी लिखा है—"ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।"

अर्थात् स्वास्थ्य और आयु-रक्षा के लिए प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में अवश्य उठ जाना चाहिए।

प्रायः देखा जाता है कि जो काम दिन-दिन भर लगे रहने पर भी नहीं हो पाता, वह प्रातःकाल सहज ही क्षण भर में हो जाया करता है। खास कर विद्यार्थियों के लिए तो इससे बढ़िया और सुन्दर समय दूसरा हो नहीं सकता। वे जिस पाठ या प्रश्न को दिन-रात सोचकर सर खपा देते हैं और फिर भी उसमें सफल नहीं होते, वेही प्रातःकाल अल्प समय में ही बड़ा-से-बड़ा पाठ याद कर लेते और प्रश्न भी पूरा कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि उस समय मनुष्य का मन-मस्तिष्क एकदम शाँत और स्थिर रहता

है, इसलिए जिस किसी काम में वह जरा भी श्रम कर देता है, वही आसानी से हो जाया करता है। विचार-धारा स्वच्छ प्रवाहित होती रहती है। अन्य समयों में चित्त स्थिर नहीं रहता, इसलिए छोटा-से-छोटा काम भी पहाड़ वन जाता है। अतएव रात में जल्दी सोना और प्रातःकाल जल्दी ही शय्या का परित्याग कर देना आवश्यक है।

इसी ब्राह्ममुहूर्त को अमृतवेला भी कहते हैं। इस नाम का भी एक विशेष कारण है। उस समय संसार शान्त रहता है। शहर या गावों में कहीं भी गाड़ी-एक्के की झन-झनाहट, खड़-खड़ाहट और धूल आदि नहीं उड़ती। उस शान्ति का प्रभाव यह होता है कि वायु स्वच्छ और शान्त गति से चलता है तथा चन्द्र-किरणें उसे शीतल किए रहती हैं। इसीलिए वह वायु बड़ा स्वास्थ्य-प्रद होता है। किन्तु ज्यों-ज्यों सूर्योदय निकट आता जाता है, संसार के सभी व्यापार अपनी गति से होने लगते हैं, त्यों-त्यों वायु दूषित होता जाता है और उसकी स्वास्थ्य-दायिनी शक्ति नष्ट हो जाती है।

सूर्योदय से पूर्व अमृतवेला में उठकर जो मनुष्य टट्टी आदि से निवटकर वाहर मैदान में टहलने चला जाया करता है, वह सदैव नीरोग और स्वस्थ दीख पड़ता है। इसके विपरीत जो सूर्योदय तक अथवा उसके वाद तक सोया करता है, वह सदैव रोगी दृष्टिगोचर होता है।

वसन्त ऋतु में सूर्य का ताप कुछ वढ़ जाता है। वे अपने

प्रचण्ड रूप को धारण करते हैं। आयुर्वेद के मत से वही समय कफ जन्य रोगों के उत्पन्न होने का होता है। अतएव यह समझा जा सकता है कि उसी प्रकार प्रातःकालीन सूर्य की अरुण किरणें हमारे कफ को पिघलाकर अन्य रक्तवाहिनी शिराओं में ले जाकर शरीर में रोग का प्रादुर्भाव करती हों। विचार करने से बहुत अंशों तक यह ठीक भी मालूम पड़ता है।

वर्तमान समय में भी बड़े-बड़े आफिसर और अँग्रेज तथा कुछ स्वास्थ्य के मूल्य को समझनेवाले भारतीय भी प्रातःकाल उठकर टहलने के लिए जाया करते हैं, और कम-से-कम दो तीन मील का चक्कर लगाकर लौट आते हैं। अस्तु। प्रत्येक स्वास्थ्याभिलाषी व्यक्ति को प्रातःकाल जल्दी उठकर शौच-क्रिया से निवृत्त होकर कम-से-कम मील दो मील का चक्कर अवश्य लगाना चाहिए।

मौसम के अनुसार कपड़े पहनकर घूमने जाना चाहिए। कुछ लोग सभ्यता की विषैली प्रथा के कारण उस समय भी अधिक-से-अधिक कपड़े लादकर घूमने निकलते हैं और सो भी गरमी के मौसम में! किन्तु यह उनकी गलती है। जाड़े में इतने कपड़े पहनकर जाना चाहिए, जिसमें सरदी का आक्रमण न हो सके। किन्तु गरमी में इतना कम और हलका कपड़ा पहनना चाहिए, जिसमें प्रातःकाल का शीतल पवन शरीर में प्रवेश कर सके।

यदि भाग्यवश नदी का तट हो तो वहाँ बालू पर जूते को भी उतार कर धीरे-धीरे टहलना चाहिए। जिसमें पैरों के तलवे में

शीतल स्पर्श होकर चित्त को शान्ति एवं नेत्रों को शक्ति मिले। उस समय घूमते-घूमते किसी पास के बगीचे में जाकर लता-कुंज के पास बैठकर श्वास खींचना और छोड़ना चाहिए। उस समय हवा के साथ वनस्पतियों के छोटे-छोटे कण मिलकर उड़ा करते हैं। वे कण मानव जीवन को शक्ति प्रदान करने वाले होते हैं, फेफड़े के भीतर जाकर रक्त को शुद्ध करते हैं। हृद्रोग वाले को बगीचे में, नेत्र रोग वाले को नदी-तट की घास पर नंगे पैर, रक्तविकार वाले को नीम के झुरमुट में नंगे बदन तथा पित्त रोगी को गुलाब के झुरमुट में टहलना चाहिए।

गरमी के दिनों में टहलकर सूर्योदय से पूर्व घर लौट आना चाहिए और विद्यार्थी को अपने अध्ययन तथा और लोगों को अपने काम में लग जाना चाहिए। किन्तु जाड़े के मौसम में उठ कर शौच आदि से निवृत्त होकर अपने काम में लग जाना चाहिए, तथा घूमने के लिए उस समय जाना चाहिए जब यह समझ ले कि घूम चुकने पर लौटते समय तक सूर्योदय हो जायगा। यही कारण था कि प्राचीन समय में लोग प्रातःकाल उठकर गंगा-स्नान के लिए निवास-स्थान से दूर चले जाया करते थे। उस प्रथा का महत्व समझ कर हमारे पूर्वजों ने उसे धर्म का रूप दे दिया था; जिससे लोग धर्म समझ कर उसे अवश्य किया करें। किन्तु आज-कल उस धर्म के तत्त्व को न समझ कर उसकी अवहेलना की जाती है। अस्तु। बरसात के दिनों में घूमना उचित नहीं है; क्योंकि

बरसात के मौसम में बाग-बगीचों में कहीं-न-कहीं पानी और पेड़ों की पत्तियाँ इकट्ठी होकर सड़तीं और गंदगी पैदा करती हैं तथा कीचड़ आदि में घूमने से चित्त को प्रसन्नता नहीं मिलती; बल्कि चित्त कुछ खिन्न-सा हो जाया करता है। वैसे भी कीचड़ आदि में घूमने से अनेक प्रकार के रोग हो जाया करते हैं। हाँ, उस दिन अवश्य घूमने जाना चाहिए जिस दिन से कम-से-कम दो-तीन दिन पूर्व पानी बरसा हो और सम्पूर्ण रास्ता आदि सूख गए हों। किन्तु जिस समय पानी बरसने की सम्भावना हो अथवा उसके थोड़ी देर पहले पानी बरस चुका हो, कदापि न टहलने जाना चाहिए।

प्रातःकाल उठना और टहलना आरम्भ करने से थोड़े ही समय में स्वास्थ्य में अद्भुत परिवर्त्तन दीख पड़ता है। इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। कब्ज के लिए तो टहलना अमोघ और अपूर्व औषधि है। बिना किसी दवा के थोड़े दिनों तक नियमित रूप से टहलने वाला व्यक्ति कब्ज-रोग से सदैव के लिए पिंड छुड़ा लेता है। प्रातःकाल का उठना और टहलना दीर्घ जीवन का मूल मंत्र है।

दातुन

प्रातःकाल उठने के समान ही मानव जीवन के लिए एक महत्वपूर्ण प्रश्न दातुन का भी है। जिस प्रकार सूर्योदय के बाद

तक सोते रहने से स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दातुन न करने से भी स्वास्थ्य विनष्ट हो जाता है। मैंने स्वयं अनेक रोगियों की चिकित्सा में इस बात का अनुभव किया है कि अधिकांश रोग इसी दातुन न करने के परिणाम थे। तथा उस ओर ध्यान न देने का फल यह हुआ कि अनेक विज्ञ चिकित्सकगण अपनी स्वल्प असावधानी के कारण रोगी की चिकित्सा में सफल प्रयास न हो सके। दातुन–बालक, वृद्ध, युवा एवं नर-नारी सभी के लिए भोजन से भी बढ़कर आवश्यक और अनिवार्य है। यदि दातुन का अभ्यास प्रत्येक बालक को बाल्यावस्था से ही कराया जाय, तो यह निश्चित-सा मालूम होता है कि अनेक भयंकर रोगों से जीवन की रक्षा हो जाय। यही दातुन की असावधानी का कारण है कि पायरिया-जैसी भयानक व्याधियों का शिकार बनना पड़ता है।

जो बालक, बाल्यावस्था से अपने दाँतों की सफाई का ध्यान नहीं रखते, उनके दाँत जड़ से कमजोर हो जाया करते हैं। दाँत और मसूढ़ों के बीच में काला-सा पदार्थ जम जाया करता है। उसी से कीड़े पैदा होते हैं और वे कीड़े दाँतों को एकदम खा जाते हैं। परिणाम स्वरूप उन बालकों के दाँत जीवनपर्यन्त के लिए नष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी माता की असावधानी से भी बालकों को यह कष्ट सहन करना पड़ता है। बालकों की छोटी अवस्था में माताएँ उन्हें दूध पिलाती हैं; किन्तु उन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि दूध का कुछ अंश बालक के दाँतों पर भी जम रहा

है! पहले तो उसका पता नहीं चलता; किन्तु जिस समय गंदगी के कारण कीड़ों का आक्रमण हो जाता है, उस समय उन्हें इसकी कुछ चिन्ता होने लगती है। परन्तु उसके उपचार का समय आते-आते बेचारे बालक का स्वास्थ्य तो नष्ट प्राय हो ही जाता है। अन्त में सदैव उन्हें किसी-न-किसी रोग विशेष के कारण चिकित्सक का द्वार झाँकना पड़ता है। चिकित्सकगण भी इस ओर ध्यान नहीं देते और वर्तमान रोग की चिकित्सा करते-करते आजन्म के लिए उसे औषध-भोजी बना डालते हैं।

अनेक व्यक्ति अपने दाँतों का नाश पान खा-खाकर भी कर डालते हैं। वे पान खाने के जितने व्यसनी होते हैं, उतने दाँत साफ करने के नहीं होते। पान खूब खाते हैं; किन्तु दातुन करते समय जरा-सा उँगली से मलकर छुट्टी पा जाते हैं। ऐसे व्यक्ति समझदार होकर भी अपने जीवन को नष्ट करने में किसी बात की कमी नहीं करते। पान में सर्वत्र पत्थर का चूना व्यवहृत होता है और विशेषकर पत्थर के चूने में दाँतों में चिपकने की विशेष शक्ति होती है। वह धीरे-धीरे दाँतों की जड़ों में जमकर अपना पूर्ण अधिकार जमा लेता है। साथ ही पान की नसें भी दाँतों के बीच में चली जाया करती हैं और वे आसानी से निकलती भी नहीं तथा वहीं रहकर सड़ना भी आरम्भ हो जाती हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि दाँतों में दर्द, मसूड़ों का पकना तथा रक्त-निकलना आरम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे उसकी पाचनशक्ति में भी विकृति आने

लगती है। इसका कारण यह है कि जिस समय हम भोजन करते हैं, उस समय जब ग्रास कूचने लगते हैं, तब दाँतों के भीतर अर्थात् मसूढ़े से एक तरल; किन्तु चिकना-सा पदार्थ निकलता है। वह पदार्थ ग्रास के साथ लिपट कर पेट में जाता और पाचन क्रिया में सहायता पहुँचाता है। उसमें जब विकृति आ जाती है, तब पाचन क्रिया में भी विकृति उत्पन्न होने लगती है। अजीर्ण हो जाता है। किसी-किसी को ग्रहणी और अतिसार अथवा भयंकर कोष्ठबद्धता का शिकार बनना पड़ता है। किसीमें कृमि भी दृष्टिगोचर होते हैं। प्रायः कृमि उसी अवस्था में उत्पन्न होते हैं, जब मसूढ़ा पकने लगता है और दाँतों की जड़ में पानी लगने से कष्ट होता है। उस समय दाँतों पर कृमि का अधिकार रहता है और वे कृमि, भोजन के साथ पेट में जाकर अनेक रोगों की सृष्टि करते हैं।

प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर पहले टट्टी से निवटकर दातुन करना चाहिए। आयुर्वेदिक ग्रंथों में प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग दातुन की नाप और वृक्ष बतलाए हैं। किन्तु यहाँ उसके विवेचन की आवश्यकता नहीं है। साधारण तौर पर नीम, बड़, पाकर, डिठोरी, बबूल, खैर और मौलसिरी की दातुन काम में लाना चाहिए। दातुन साधारण मोटी और आठ-दस अँगुल लम्बी लेनी चाहिए। पहले उसे पानी से धोकर धीरे-धीरे कूचकर उसकी महीन कूची ब्रश के माफिक बना ली जाय, तब धीरे-धीरे उसे दाँतों पर जड़ तक रगड़ा जाय। यदि सम्भव हो तो

आइना में देखकर सब जड़ और दाँत की जोड़ें साफ कर ली जायँ। जो लोग पान खाते हों, वे पहले सरसों का तेल उसी दातुन से दाँत पर मलकर तब कालीमिर्च और सेंधानमक और तुम्बुल के बीज का खूब बारीक चूर्ण लेकर उसी दातुन की कूची से मलें, जिसमें दाँत खूब साफ हो जायँ। दातुन की कूची कड़ी रहने अथवा जोर देकर रगड़ने से मसूढ़े छिलकर कभी-कभी पक जाया करते हैं। उसका परिणाम भी प्रायः पायरिया ही होता है। अतएव दातुन बड़ी सावधानी और चतुरता से करनी चाहिए।

प्रायः नगरनिवासियों के लिए दातुन का प्राप्त होना कष्टसाध्य होता है। अतएव उन्हें दातुन के अभाव में दन्तमंजन का उपयोग करना चाहिए। बादाम, मौलिसिरी अथवा सुपारी जलाकर; सेंधा-नमक, कालीमिर्च, तुम्बुल का बीया, लौंग, दालचीनी, कपूर और मजीठ का चूर्ण बनाकर कपड़-छान करके रखलें और थोड़ा-सा लेकर धीरे-धीरे दाँतों पर उँगुली से मलकर कुल्ला कर लिया करें।

कुल्ला करने के बाद ताँबे या चाँदी की जीभी से जीभ को धीरे से छीलकर साफ कर लेना चाहिए। जीभ साफ करने की सुविधा दातुन में अधिक होती है; क्योंकि दाँत साफ करने के पश्चात उसे ही फाड़ कर जीभी बना लेते हैं और वह जीभी धातु विशेष की जीभी से अत्यधिक लाभप्रद एवं उपयोगी होती है। जीभ साफ रखने से शब्द स्पष्ट निकलता है। किन्तु जो लोग जीभी का उप-योग जरा कठोर करते हैं उनकी जिह्वा छिल जाती है और वे बहुत

कष्ट पाते हैं। इसलिए जीभी को हलके हाथ से धीरे से जीभ पर रगड़ना चाहिए, जिसमें जीभ की मैल साफ हो जाय।

कुछ लोग दातुन के स्थान पर ब्रश का उपयोग करते हैं। ब्रश से दाँत तो अवश्य चमकने लगते हैं; किन्तु यदि कड़ा ब्रश हुआ तो उससे मसूढ़े कुछ कट-से जाते हैं, जिससे लाभ के बजाय हानि होती है। अतएव यदि ब्रश व्यवहार में लाना अभीष्ट हो, तो मुलायम ब्रश लाना चाहिए और दाँत साफ करते समय साव-धानी रखनी चाहिए।

दाँत और जीभ की सफाई रखने पर भी यदि किसी समय कुछ लवाब-सा मालूम पड़े, अथवा जल पीने की इच्छा हो या सोकर उठे हों, उस समय मुँह में पानी लेकर कुलकुला कर कुल्ला कर देना चाहिए। एक बात का तो निश्चय ही ध्यान रखना चाहिए कि जल पीते समय अवश्य कुल्ला करके मुँह साफ कर लिया जाय। ऐसा करने से चित्त प्रसन्न रहता और पिपासा शान्त हो जाती है एवं किसी व्याधि का भय नहीं रहता।

भोजन के बाद भी सावधानी से दाँतों की सफाई करनी चाहिए; क्योंकि भोजन में कड़े और मुलायम सभी तरह के पदार्थ रहते हैं और वे चर्वण के समय दाँतों की सन्धि एवं जड़ में चिपक जाते हैं। अतएव भोजन के बाद कुल्ला करते समय सावधानी से दाँतों की जड़ और सन्धि साफ कर देनी चाहिए। अन्यथा कृमि उत्पन्न हो कर दाँत एवं स्वास्थ्य का सर्वनाश कर देते हैं।

दाँतों की सफाई अथवा कुल्ला करने के लिए भूलकर भी गरमागरम पानी का उपयोग न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ लोग जो अहंमन्यता के साथ दाँतों से सुपारी आदि तोड़ते हैं, वे वास्तव में अपने दाँत और आँख का सर्वनाश करते हैं; क्योंकि दाँत का झटका आँख तक लगता है और आँख अत्यन्त कोमल है।

व्यायाम

मानव-जीवन के लिए श्रम अत्यावश्यक है। जो भोजन करता है, उसे श्रम भी अवश्य करना चाहिए। बिना श्रम के भोजन का परिपाक नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार अन्न पच भी जाता है, तो उसे ईश्वर की कृपा ही कहना होगा। अतएव दातुन से निबट कर पहले व्यायाम करना चाहिए। व्यायाम करने की अवस्था बारह वर्ष के बाद आरम्भ होती है। इससे पहले बालकों की अस्थियाँ बहुत ही कोमल होती हैं और व्यायाम करने से उनमें विकृति आने का भय रहता है, इसीलिए शास्त्रकारों ने बारह वर्ष से पूर्व व्यायाम का निषेध किया है। बारह वर्ष तक बालकों के अंग-प्रत्यंग अत्यधिक बढ़ते रहते हैं, अतएव उस समय किसी प्रकार का शारीरिक श्रम इतना न करना चाहिए, जिससे अस्थियाँ पुष्ट होने लगें और उनकी वृद्धि कम हो जाय; क्योंकि जब अस्थियाँ पुष्टता

की ओर अग्रसर होंगी, उस समय अवश्य ही उनकी वृद्धि कम हो जायगी। इसका उदाहरण एक वृक्ष से दिया जा सकता है। जब तक वृक्ष में अत्यधिक कोमलता होती है, तब तक वह अधिकाधिक बढ़ता रहता है। किन्तु जब कठोरता आने लगती हैं, तब उसका बढ़ना कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त नवजात शिशु जितना अधिक बढ़ता है, उतना पाँच वर्ष का बालक नहीं बढ़ता; क्योंकि उसमें कठोरता आने लगती है। इसी प्रकार व्यायाम के बाद भी शरीर की वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है।

व्यायाम स्त्री-पुरुष दोनों के लिए आवश्यक है। व्यायाम के लिए साफ-सुथरा; किन्तु यथासम्भव खुला स्थान होना चाहिए, जिसमें बाहर की स्वास्थ्य-प्रद वायु आसानी से आ-जा सके। क्योंकि व्यायाम के समय शुद्ध एवं स्वच्छ वायु का मिलना बहुत ही आवश्यक है। व्यायाम करते समय लँगोट अवश्य पहन लेना चाहिए। कुछ लोग लँगोट के स्थान पर जाँघिया का उपयोग करते हैं। वह भी उचित ही प्रतीत होता है। व्यायाम के समय लँगोट या जाँघिया न पहनने से अन्त्र-वृद्धि का भय रहता है। व्यायाम-शाला के पास हरे एवं सुगन्धित वृक्षों की अत्यन्त आवश्यकता है। जैसे—तुलसी, गेंदा, गुलाब, सौंफ और नीबू-नारंगी आदि। इन वृक्षों से एक तो वायु शुद्ध होता है, दूसरे चित्त प्रसन्न रहता है। व्यायाम करनेवालों के लिए चित्त की प्रसन्नता अत्यावश्यक है।

व्यायाम करते समय चित्त को एकदम प्रसन्न रखना चाहिए। उस समय यही अनुभव करना चाहिए कि हमारा अंग-प्रत्यंग सुदृढ़ हो रहा है और हम पूर्व से अधिक बलशाली हो रहे हैं।

जहाँ पर व्यायाम किया जाय, वहीं सामने एक बड़ा आइना लगा देना चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि हमारी एक-एक पेशियाँ अत्यधिक सुगठित हो रही हैं और अब हम पूर्ण शक्ति को प्राप्त करने में सफल प्रयास हो जायँगे। व्यायाम-शाला के समीप अतीव शान्ति हो। अपने या व्यायाम करने वालों के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री-पुरुष का आना-जाना रोक देना उचित होता है। व्यायाम उतनाही किया जाय, जितने में शरीर श्रमित हो जाय; किन्तु अप्रसन्नता का भाव न उदित हो। अपने चित्त पर अनुचित दबाव देकर कभी भी व्यायाम न किया जाय। व्यायाम करते समय श्वास धीरे-धीरे नासिका द्वारा ही छोड़ना चाहिए। मुख को एकदम बंद रखना चाहिए। अन्यथा हृदय को अत्यधिक काम करना पड़ता है, जिससे अनेक व्याधियों का भय रहता है। व्यायाम के समय जितना ही श्वास रोकने का अभ्यास होगा, उतना ही अधिक बल हृदय को मिलेगा। किन्तु हठपूर्वक श्वास रोककर व्यायाम करना भी हानिकारक होता है।

व्यायाम के लिए शीतकाल ही अधिक उपयोगी होता है। शीतकाल में व्यायाम की उष्णता विलम्ब से प्रतीत होती है। किन्तु गरमी के दिनों में अतिशीघ्र उष्णता का आभास होने लगता है।

इसके अतिरिक्त गरमी के दिनों में व्यायाम करने से पित्त अति-शीघ्र बढ़ जाता है। फलस्वरूप स्वल्प श्रम में ही चित्त आकुल हो उठता है। जाड़े के बाद व्यायाम का समय वर्षा ऋतु ही है। वर्षाकाल में अत्यधिक शीतोष्ण का झगड़ा नहीं रहता। उस समय प्रातःकाल ही उपयुक्त है। किन्तु शीतकाल में सायंकाल के समय भी किया जा सकता है। व्यायाम उतना ही किया जाय, जितने में थोड़ा श्रम प्रतीत होकर स्वेद का प्रादुर्भाव हो जाय। व्यायाम के बाद एकदम बैठना न चाहिए; बल्कि धीरे-धीरे टहलना चाहिए। तुरत बैठ जाने से रक्त का ठीक-ठीक संचार नहीं हो सकता। फलस्वरूप अनेक संधि की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

व्यायाम करने के आध घंटा बाद जलपान, और एक घंटा बाद तैल की मालिश तथा दो घंटे बाद स्नान करना चाहिए। जिन्हें इतना समय हो, वे ही स्नान से पूर्व व्यायाम करें। जिन्हें सम-याभाव हो, वे स्नान के बाद ही व्यायाम करें। किन्तु व्यायाम के बाद स्नान करना अधिक उपयोगी होता है; क्योंकि व्यायाम से जितनी चंचलता और उष्णता शरीर में आ जाती है, वह स्नान से शाँत हो जाती है। लेकिन व्यायाम के बाद उपर्युक्त समयों से पहले कोई-सा भी काम करने से भयंकर गठिया आदि रोगों का शिकार होना पड़ता है।

स्त्रियों के लिए व्यायाम

सुखी रहकर संसार-यात्रा करने के लिए स्वस्थ्य और सबल रहना आवश्यक है। जिस घर में स्वस्थ और सबल स्त्री-पुरुष नहीं वास करते, वह घर हमेशा के लिए अशांति का केन्द्र-सा बन जाता है।

रुचिकर भोजन, उत्तम जल, स्वच्छ वास-स्थान, मुक्त वायु और नियमित व्यायाम हमारे जीवन के लिए आवश्यक हैं। कुछ लोग अच्छा भोजन करके और अच्छे मकान में रहकर सोचते हैं कि हम स्वास्थ्य का खूब ध्यान रखते हैं—सोते-बैठते दिन बिता-कर शरीर की उन्नति करते हैं; किन्तु यह उनका भ्रम है। जिस प्रकार अधिक परिश्रम या व्यायाम करने से स्वास्थ्य की हानि होती है, उसी प्रकार अधिक विश्राम से भी शरीर की क्षति होती है।

आजकल हमारे देश में स्त्रियों पर अत्याचार के जो समाचार सुनाई पड़ते हैं, उन्हें देखकर यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि पुरुष ही नहीं, स्त्रियों को भी अब व्यायाम करना चाहिए।

कुछ लोगों की धारणा है कि यदि स्त्रियाँ व्यायाम करने लगेंगी, तो उनकी स्त्री-सुलभ-प्रकृति नष्ट होकर, पुरुष-प्रकृति उत्पन्न होगी और इससे एक प्रकार की संसार में अशान्ति फैल जायगी। परन्तु यह धारणा मिथ्या है। व्यायाम से बुराई होने

की आशा कभी न करनी चाहिए। हमारा निश्चित विश्वास है कि यदि स्त्रियाँ उचित व्यायाम करना आरंभ कर दें, तो उनमें कान्ति, तेज, बल और सौन्दर्य बढ़ने के साथ-ही अपूर्व साहस भी बढ़ जायगा। वे अपने बदन के सुगठन से पति को अधिक आकर्षित कर सकेंगी तथा बल और साहस से समय पर दुष्टों को मुँह-तोड़ जवाब भी दे सकेंगी।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि गाँव अथवा गरीब घर की स्त्रियाँ, जो अपने हाथों घर का काम-काज—जैसे चक्की चलाना, झाड़ना-बुहारना, कुएँ से पानी भरना, खेतों में काम करना तथा मजदूरी आदि करती हैं, वे खासी पुष्ट, कान्तिवान, साहसी और सहनशील होती हैं। साहस या वीरता के कामों में अपटुडेट बबुआइनों के नाम आपने कभी न सुने होंगे। हाँ, क्षय, प्रदर, रक्तगुल्म, क्षीणता आदि रोगों का अधिक मात्रा में शिकार होते हुए उन्हें अवश्य देखा होगा।

कुछ लोगों का यह भी खयाल है कि स्त्री के बलवान या पुष्ट हो जाने पर गर्भ-धारण करने की शक्ति उसमें नहीं रहती; पर यह भी भ्रम मात्र है। कौन कह सकता है कि घर का काम-काज या व्यायाम करते हुए पुष्ट और सुन्दर गठनवाली गरीबों की औरतों के बालक उत्पन्न नहीं होते? हाँ, उन बड़े घर की औरतों को, जो अनाब-शनाब खा-खाकर चर्बी या मेद से शरीर को मोटा कर लेती हैं, अवश्य ही सन्तति नहीं होती। चर्बी बढ़ जाने से

स्त्री में गर्भ धारण करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और पुरुष नपुंसक हो जाते हैं। परिश्रम या व्यायाम मेद-नाशक है; अतएव सब प्रकार की स्त्रियों के लिए इसकी आवश्यकता है। दुबले-पतले और अस्वस्थ रहकर जीवन बिताने से मर जाना श्रेयस्कर है। अस्तु; अब हम उन स्त्रियों के लिए, जिन्हें पर्दे या घर के दरबे में रहकर कुछ परिश्रम करने का मौका नहीं मिलता, कुछ सीधी-सादी व्यायाम की पद्धतियाँ लिखते हैं:—

(१) हाथों का व्यायाम—सीधी खड़ी होकर दोनों हाथ कंधे पर लगाओ, फिर नीचे दाहिने-बाँयें इस प्रकार दस-दस बार हाथों का संचालन करो। इससे हाथों की मांस-पेशियाँ एवं रक्त-संचालन आदि ठीक होंगे।

(२) पैरों का व्यायाम—कमर पर हाथ रखकर सीधी खड़ी हो जाओ। एड़ी को उठाकर पंजों पर वजन तौलो और धीरे-धीरे दस बार कदम आगे बढ़ाओ, पीछे लौटो। इस क्रिया को भी दस-दस बार करना चाहिए। इससे पिंडलियाँ और जंघा सुगठित और सुन्दर होते हैं।

(३) कमर का व्यायाम—सीधी खड़ी हो जाओ और दाहिने हाथ की मुट्ठी बाँधकर, दाहिनी बगल से जमीन की ओर झुको। इसी प्रकार बाँईं ओर भी झुकना चाहिए। इस क्रिया को भी दस-बारह बार करना आवश्यक है। इससे कमर पतली और पुष्ट होती है। पेट की फालतू चर्बी निकल जाती है।

(४) छाती का व्यायाम—जोर-जोर से श्वास लेना और छोड़ना चाहिए। इससे फेफड़ा शुद्ध और पुष्ट होता है। यह क्रिया भी दस-बारह बार करनी चाहिए।

(५) पूर्णाङ्ग का व्यायाम—दोनों पैर जोड़कर इस प्रकार कूदना चाहिए, जिससे अन्त में पैर अलग-अलग हो जायँ। दस-बारह बार ऐसा करने से शरीर के सब अवयवों पर जोर पहुँचता है।

(६) गर्दन का व्यायाम—कम-से-कम पंद्रह बार नित्य गर्दन को चारों ओर हिलाना चाहिए। इससे कण्ठ-रोग नहीं होते, गर्दन में चर्बी नहीं बढ़ती, ग्रीवा खूबसूरत हो जाती है और आवाज रसीली मालूम होने लगती है।

इसी प्रकार और-और अङ्गों की भी कसरतें हो सकती हैं। नाना प्रकार के अङ्ग-संचालन को ही व्यायाम कहना चाहिए। मतलब कि जिस अङ्ग को पुष्ट करना हो, उसीका संचालन करना चाहिए। अङ्ग-संचालन के समय यह विचार भी दृढ़ रखना चाहिए कि इस व्यायाम से हमारा अमुक अङ्ग वास्तव में परिपुष्ट हो रहा है। इस प्रकार नियमित रूप से नित्य प्रातःकाल व्यायाम करने से कुछ ही दिनों में उन्हें अपने जीवन में एक अद्भुत परिवर्त्तन होता नजर आयेगा।

तैल का उपयोग

मानव जीवन में शरीर के लिए जिस प्रकार स्नान, ध्यान, भोजन, शयन, भ्रमण, शौच और वस्त्र आदि आवश्यक हैं, उसी प्रकार स्वास्थ्य के लिए तैल भी बहुत आवश्यक वस्तु है। यों तो तैल की कितनी खपत होती है, कितने लोग उसका उपयोग करते हैं, यह सर्वसाधारण से छिपा नहीं है। तैल का जैसा उपयोग होना चाहिए वैसा तो शायद ही कोई भारतीय करता हो। फिर भी उसका जितना अपढ़ समाज अथवा निम्न श्रेणी के लोगों में होता है, उतना बड़े-बड़े शिक्षितों में नहीं होता। यदि आप यह कहें कि शिक्षित एवं सभ्यता के हामी लोग क्या इतने बड़े मूर्ख हो सकते हैं जो एक साधारण-सी वस्तु—तैल का उपयोग न जानेंगे? वास्तव में वे उसका उपयोग भली भाँति कर सकते हैं; परन्तु उन्हें ऐसा करने से सभ्यता रोकती है। यदि उसे सभ्यता न कहकर शान-शौकत कहा जाय तो कोई हानि न होगी।

क्या वह भी कोई शान-शौकत है जिससे स्वास्थ्य का दिवाला निकल जाय? उनसे क्या मतलब! यह तो मृत्यु-लोक है, जो आता है वह अवश्य जायगा, पहले या बाद। वे लोग समझते हैं कि व्यर्थ तैल लगाने से गर्द-गुब्बार उड़कर जम जायगा और लोगों के देखने में बुरा मालूम होगा। जो लोग अधिक बालों के शौकीन हैं; वे तैल की जगह "वेस्लिन" का उपयोग करते हैं; किन्तु

यह उनका नितान्त भ्रम है। वेस्लिन, मिट्टी के तैल का एक सार पदार्थ होता है और उसमें तरह-तरह के विदेशी सुगंधित द्रव्य मिलाते हैं। वास्तव में वेस्लिन मस्तिष्क-शक्ति को कम करने और बालों को असमय में ही सफेद कर देने का काम करती है। उससे लाभ केवल इतना ही होता है कि बाल अच्छी तरह यथास्थान जमे रहते हैं। मुँह पर भी तैल के स्थान पर "हैजलीन" का उपयोग किया जाता है। वह थोड़ी देर के लिए अवश्य मुख को चमका देती है; परन्तु थोड़ी देर बाद पुनः हवाइयाँ भी उड़ने लगती हैं। उससे कहीं स्वल्प व्यय में और कहीं अच्छा काम तैल से निकलवा है। क्या कुछ भारतीयों के तैल का उपयोग न करने से तैल को कोई नहीं पूछता? वास्तव में पाश्चात्य सभ्यता ने संसार का अच्छी तरह नाश किया है। एकबार तैल लगाकर स्नान करने के बाद जितनी कोमलता, कान्ति, स्वच्छता एवं प्रसन्नता होती हैं, उतनी हजार बार किसी भी कृत्रिम चीज को लगाकर स्नान करने अथवा रहने से नहीं होती।

भारतीयों की प्रकृति के अनुकूल पश्चात्य चीजें और पाश्चात्यों की प्रकृति के अनुकूल भारतीय वस्तु किसी प्रकार भी नहीं हो सकतीं। अनुकरण की बात संसार में दूसरे दर्जे की है। जो किसी की नकल करता है वह संसार में नकलची के नाम से प्रख्यात होता है। नियमपूर्वक रहने ही से स्वास्थ्य सदैव उन्नति करता है और तभी मनुष्य उच्च एवं उच्चतर मर्यादा प्राप्त कर सकता है। इस विषय का महत्त्व महर्षि सुश्रुताचार्य कहते हैं—

जलसिक्तस्य वर्द्धन्ते, यथा मूलाङ्कुरोस्तरोः।
तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेह सिक्तस्य जायते॥

जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में जल सींचने से वह बढ़ता है, उसी प्रकार तैल मालिश करने से मनुष्य की धातु बढ़ती हैं।

सबसे बढ़कर इस बात का प्रमाण यह है कि बड़े-से-बड़े भयंकर रोगों के लिए भी आचार्य्यों ने तैल निर्मित किया है, जिनके लगाने मात्र से बड़ी-बड़ी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

सबसे आवश्यक बात है कि तैल का उपयोग यदि किया जाय तो किस प्रकार किया जाय और किस मौसिम में कौन-से तैल का उपयोग किया जाय? वायु का नाश करने के लिए तैल से बढ़कर दूसरी वस्तु नहीं है। अस्तु। नीचे लिखे गुणों के अनुसार मौसिम का ध्यान रखते हुए तैल की मालिश करनी चाहिए।

तिलतैलमलंकरोति केशान्मधुरं तिक्तकषायमुष्णतीक्ष्णम्।
बलकृत्कफवातजं तु खर्जूव्रणकण्डूतिहरं च कान्तिदायि॥

तिल का तैल—केशों को उत्तम करनेवाला, मधुर, तीता, कषैला, गरम, तीक्ष्ण, बलकारक; कफ, वात, कृमि, खुजली, व्रण एवं कण्डू आदि को नष्ट करनेवाला एवं कान्तिकारक है।

दीपनं सार्षपं तैलं कटुपाकि सरं लघु।
लेखनं स्पर्शवीर्योष्णं तीक्ष्णपित्तास्रदूषकम्॥
कफमेदोऽनिलाऽर्शोघ्नं शिरः कर्णामयापहम्।
कण्डूकोष्ठकृमिश्वित्रकुष्ठदुष्टव्रणप्रणुत्॥

सरसों का तैल—दीपन, पाक में कटु, सारक, हलका, लेखन; स्पर्श और वीर्य में उष्ण, तीक्ष्ण, पित्त और रक्त को दूषित करनेवाला; कफ, मेद, वायु, अर्श, शिरोरोग, कर्णरोग, कण्डू, कोठ, कृमि, श्वित्र, कोष्ठ, और दुष्ट व्रण को नष्ट करता है।

अतएव गरमी के दिनों में तिल का तैल और महाचन्दनादि तैल की मालिश करनी चाहिए। जाड़े के दिनों में सरसों का तैल और महालक्ष्मी-विलास तैल की मालिश करनी चाहिए।

तैल मालिश करने के नियम—

शरीर में तैल धीरे-धीरे मालिश कराना लाभदायक होता है। तैल मालिश कराने से वायु का नाश होता है। त्वचा में एक पित्त रहता है; उसे जब अधिक दिनों तक चिकना पदार्थ नहीं मिलता तब चमड़े में रूखापन पैदा होता है। उसका फल यह होता है कि खुजली, कुष्ठ एवं अनेक प्रकार की व्याधियाँ पैदा हो जाती हैं। तैल मालिश कराने से वह शान्त रहता है। विशेष कर जाड़े के दिनों में तो अवश्यमेव तैल का उपयोग करना चाहिए। शरीर में तैल लगाने के बाद धीरे-धीरे सिर में लगाना चाहिए। सिर में तैल लगाने से बाल असमय में नहीं पकते, मस्तिष्क-शक्ति बढ़ती एवं नेत्रों की ज्योति चिरकाल तक स्थायी रहती है। सिर में तैल लगानेवाले को जुकाम या मस्तिष्क सम्बन्धी बीमारी भी नहीं होती। बाजारू सेन्ट आदि से बनाए हुए तैल का लगाना हानिकारक है। अधिकांश बाजारू तैल ह्वाइटाइल (साफ किये

मिट्टी के तेल) से बनाए जाते हैं; क्योंकि उनपर कोई-सी सुगंध आसानी से जमाई जा सकती है। दूसरे तैलों पर सुगंध आसानी से नहीं जमती। उसके उपयोग से असमय में ही बाल पक जाते और स्मरण-शक्ति विकृत हो जाती है।

सिर के बाद कानों में तैल छोड़ना चाहिए। कानों में तैल छोड़ने से नेत्रों को विशेष लाभ होता है और कानों में मैल नहीं जमती। साथ-ही जो जम भी जाती है, वह आसानी से निकाली जा सकती है। जाड़े में नेत्रों में भी सरसों का तैल छोड़ना चाहिए। इससे नेत्रों में कोई विकार नहीं होता। सरसों के तैल का नस्य भी लिया जाता है। उससे मस्तिष्क-शक्ति को विशेष लाभ पहुँचता है। नासिकारोग, शिरोरोग, जुकाम, पीनस और आधा सीसी आदि का दर्द नहीं होता। सरसों के तैल से यदि दाँत मला जाय तो हिलते हुए दाँत भी ठीक हो जाते हैं। इसके बाद मूत्रेन्द्रिय आदि सम्पूर्ण स्थानों में तैल लगाना आवश्यक है।

जाड़े के दिनों में पैर के तलुओं में अथवा सोते समय थोड़ा तैल अवश्य धीरे-धीरे मालिश करना चाहिए। पैर के तलुवों में तैल मालिश करने से आँखों की ज्योति बढ़ती, हर समय ठंढक रहती एवं सुखपूर्वक निद्रा आती है। विशेषतः जाड़े के दिनों में प्रायः बिवाई फट जाती है। उसका एकमात्र कारण वायु की रूक्षता एवं पित्त का विकृत हो जाना है। तैल बराबर मालिश करने से वायु की रूक्षता और पित्त की विकृतता नहीं होती और

बिवाई नहीं फटती। जिसे बिवाई फट भी जाय, उसे उचित है कि सरसों का तैल गरम करके मोम मिलाकर रख दे। जम जाने पर थोड़ा-थोड़ा लगा दिया करे। सरसों में विशेष कर पीले सरसों का ही तैल गुणद है। तैल के अधिक गुण मर्दन के हैं, भक्षण के नहीं। तैल खाने से हृदय को विशेष हानि होती है। आयुर्वेद में जहाँ पर तैल के गुण लिखे हैं, वह मर्दन के लिए ही हैं; खाने के लिए नहीं। कुछ लोग तीसी (अलसी) का तैल खाते हैं। वह वास्तव में सरसों-जैसा हानिकारक नहीं हैं। फिर भी स्वास्थ्य की दृष्टि से विशेष अच्छा भी नहीं है।

व्यायाम के बाद धीरे-धीरे तैल की मालिश करानी चाहिए। जाड़े और बरसात के दिनों में सरसों का तैल, महाचन्दनादि या लक्ष्मीविलास तैल की मालिश कराई जाय; किन्तु गरमी के दिनों में तिल या महाचन्दनादि तैल की ही मालिश करानी चाहिए।

रोग विशेष में तैल विशेष—

गेहूँ का तैल लगाने से उकवत में लाभ होता है। रेंड़ी का तैल विशेष कर वात-नाशक और दस्तावर है। इसका जुलाब भी दिया जाता है। एक तोला से चार तोले तक दूध के साथ। नीम का तैल लगाने से खुजली और व्रण नष्ट होते हैं। बहेड़ा का तैल पान में खाने से खाँसी नष्ट होती है। खीरा, ककड़ी, कद्दू का तैल सिर को विशेष हितकर हैं। इन सब चीजों का तैल सिर में ही लगाने के काम आता है। खसखस का तैल दवाइयों के योग

द्वारा पुष्टिकारक है। इस तेल में गोंद और अलसी भूनकर और उसमें मिश्री मिलाकर दो-दो तोले का मोदक बना लें। सुबह-शाम एक-एक खाकर ऊपर से दूध पीने से बल और वीर्य की वृद्धि होती है।

स्नान का महत्व

मानव जीवन के लिए स्नान बहुत-ही आवश्यक है। किन्तु इतना महत्व पूर्ण अंग होते हुए भी स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से कितने लोग उसका उपयोग करते हैं? अधिकांश लोग जो स्नान करते हैं, वह उसे एक धर्म का अंग मानते हैं, और जो लोग स्वास्थ्य के लिए उसे आवश्यक समझते हैं, वह तो शायद भोजन के समय ही स्नान किया करते हैं। यदि उन्हें भोजन करने की आवश्यकता न पड़े, तो वे कभी भी स्नान करने का कष्ट स्वीकार न करें। इस विषय में भारतवासी अशिक्षित समुदाय ही आगे बढ़ा हुआ है। प्रायः जितने भी बड़े-बड़े विद्वान् मिलेंगे, वह सभी अपनी स्वास्थ्य रक्षा के पक्के भक्त मिलेंगे। स्नान का विषय भी उनका अनुकरणीय होता है। तथापि उसकी रीति का उल्लेख करना आवश्यक है।

स्नान की आधुनिक परिपाटी से जितना लाभ नहीं होता, उससे कहीं अधिक हानि होती है। यदि यह कहा जाय कि आधुनिक परिपाटी ही दूषित है और प्राचीन नहीं, तो यह भी असंगत

है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसमें भी दोष हैं; परन्तु इतने नहीं, जितने नवीन में हैं।

प्रचीन प्रथा इसलिए दूषित है कि विना तैल लगाए गंदे-से-गंदे पानी में भी झट स्नान कर लिया (चाहे वदन से कहीं अधिक मिट्टी, स्नान करने से जम जाय) और झट बदन पोंछ कर अलग हो गए। नवीन में आवश्यकता से अधिक निन्दनीय सफाई भरी हुई है। नवीन सभ्यता के उपासक बिना साबुन का उपयोग किए स्नान-ही नहीं कर सकते। अधिकतर विदेशी साबुनों में चरबी का पुट अवश्य रहता है। यह चमड़े के लिए विशेप हानिकारक सिद्ध हुई है। दूसरे जिसमें चरबी न भी हुई तो वह भी विशेप हानिकारक है। उसमें सोडा काम में लाया जाता है जो त्वचा को अत्यन्त रूखा कर देता है। कुछ ही दिनों के बाद अनेक प्रकार के चर्म-रोग होने लगते हैं।

यदि स्नान को मानव जीवन के लिए दैनिक जल-चिकित्सा कहा जाय तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। प्रायः स्वास्थ्य के लिए जितने कार्य अधिक-से-अधिक उपयोगी हो सकते हैं, उन सबों को महर्पियों ने धर्म का रूप दे दिया है। वास्तव में जिस दूरदर्शिता का परिचय उन्होंने दिया है, वह अवर्णनीय है। किन्तु जिस प्रकार उसका दुरुपयोग किया जा रहा है, वह भी वास्तव में निकट भविष्य में ही समाज को वहुत वड़ी खाईं में ढकेल देगा। प्रायः छोटे-से-वड़े तक सभी कार्यों का नियम अवश्य होता है, किन्तु

भारतवासियों के दैनिक कार्यों का कोई भी नियम नहीं है। इस विषय में पाश्चात्यों का ढंग अनुकरणीय है। उनका कोई भी कार्य विना नियम के नहीं होता। उनके यहाँ स्नान को जीवन का बहुत ही बड़ा अंग समझा जाता है।

यदि स्वास्थ्य में किसी प्रकार की गड़बड़ी न हो, तो प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व उठकर टट्टी और दातुन आदि से निबट कर स्नान करना चाहिए। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में प्रातःकालीन जो नियम लिखे गये हैं, उनका उपयोग आजकल के समय में सर्वसाधारण के लिए कठिन है। उनके लिए कम-से-कम तीन-चार घंटे का समय और प्रचुर धन चाहिए। अतः नवीन प्रथा ही अनुकरणीय होगी।

बार-बार स्नान करने वाले को लोग समझते हैं, यह सीधे स्वर्ग जायगा; किन्तु यह उनका भ्रम है। स्नान करने से जो गर्द-गुब्बार शरीर में जमा रहता है, वह साफ हो जाता है, जिससे शरीरावयव ठीक-ठीक अपना कार्य करते हैं। शरीर में जितने रोम हैं, उन सभों में छिद्र हैं, जिसे रोम-कूप कहते हैं। उन रोम-कूपों के खुले रहने पर उनके द्वारा शरीर का विकार पसीने के साथ हर समय निकला करता है, किसी प्रकार का रोग नहीं होता। उनके बन्द हो जाने पर विकार भीतर ही रहकर अनेक प्रकार की भयंकर व्याधियाँ पैदा कर देता है। स्नान की महत्ता पर महर्षि चरकाचार्य कहते हैं—

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेद मलापहम्।
शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम्॥

स्नान—पवित्र, वीर्यकारक, आयु बढ़ानेवाला; श्रम, स्वेद तथा मल को दूर करने वाला और बल बढ़ाने वाला तथा शरीर को अत्यन्त ओजस्वी कर देता है।

अस्तु। स्नान करने से पहले शरीर में तैल मालिश करना चाहिये। जाड़े के दिनों में सरसों का तैल अथवा महाचन्दनादि तैल मालिश कराकर खूब मोटे खादी के अँगौछे से बदन रगड़ कर स्नान करना लाभदायक है। इसी तरह गरमी और बरसात में भी तिल अथवा महालक्ष्मी-विलास तैल की मालिश कराकर उपर्युक्त रीति से स्नान किया जाय; किन्तु सम्पूर्ण अंगों को विशेष कर बगल आदि को अँगौछे से खूब मलना चाहिए; क्योंकि इन सब जगहों में प्रायः हर समय पसीना हुआ करता है, और विशेष प्रकार की मैल वहाँ जम जाया करती है और कुछ दिनों तक न धोने से चर्म-रोग हो जाया करता है। स्नान के लिए सदैव ठंढा और निर्मल जल आवश्यक है। ठंढे और स्वच्छ जल से स्नान करने से शरीर मुलायम, चिकना और चित्त प्रसन्न रहता है। जाड़े के दिनों में भी नजाकत के कारण जो लोग ठंढा जल नहीं सहन कर सकते, उनके लिए गर्म जल की आवश्यकता है।

स्नान करते समय खूब ध्यानपूर्वक हर एक अवयव को अच्छी तरह साफ करना चाहिए। विशेषतः मूत्रेन्द्रिय को धीरे से खूब ठंढे जल से धो देना उचित है। ऐसा करने से प्रमेह, सूजाक, उपदंश एवं मूत्रेन्द्रिय-जन्य किसी प्रकार की व्याधि नहीं होती।

किन्तु धोते समय खूब ध्यान रखना चाहिये—कहीं इन्द्रिय में किसी प्रकार का झटका अथवा नाखून न लगने पाए, अन्यथा उपदंश आदि भयंकर व्याधियों का शिकार बनना होता है। स्नान करते समय सदैव मुँह में पानी भर कर सिर पर जल छोड़ना चाहिए; क्योंकि पानी रहने से जो गरमी उतरती है उसे वह अपने में ले लेता है, अन्यथा वह गरमी दाँतों में उतर जाती है, जिससे शीघ्र-ही उनमें अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं और वह असमय में ही नष्ट हो जाते हैं।

यदि किसी विशेष कारण से कभी गरम जल से ही स्नान करना पड़े, तो उस समय उस जल का उपयोग सिर पर नहीं करना चहिए। सिर पर गरम पानी पड़ने से आँखों को विशेष हानि होती है। गरम जल से स्नान करते समय भी कुछ कामों के लिए शीतल जल का उपयोग आवश्यक है। जैसे—कुल्ला करने, सिर और मूत्रेन्द्रिय धोने के लिए। आँखों को भी सदैव ठंडे जल से ही धोना चाहिए।

सिर पर जल छोड़ते समय तालू पर हाथ अथवा एक मोटा कपड़ा रखना चाहिए। मनुष्य-शरीर में तालुस्थान बहुत ही मुलायम होता है। उसमें किसी प्रकार की चोट लगने से नेत्रों को विशेष हानि होती है। नेत्र सम्बन्धी बहुत-सी शिराएँ तालुस्थान से सम्बद्ध हैं और वे अत्यन्त कोमल होती हैं। हाथ लगाकर भी विशेष वेग से पानी सिर पर नहीं छोड़ना चाहिए।

किसी कारणवश यदि साबुन का उपयोग करना पड़े, तो उसके बाद फिर तेल लगाकर स्नान करना चाहिए और वही साबुन उपयोग में लाना चाहिए, जो शुद्ध एवं चरबी-रहित हो। बिना किसी चर्म-रोग के औषधि विशेष का साबुन नहीं लगाना चाहिए। साबुन से आँख की विशेष रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि आँख के लिए सोडा विशेष हानिकारक है। आँख बहुत ही मुलायम होती है। सोडा अत्यन्त रूखा होता है और वह आँख में जाकर उसकी स्निग्धता को नष्ट कर देता है। यदि किसी प्रकार साबुन आँख में लग-ही जाय, तो तुरन्त धोकर उसमें घी लगाना चाहिए।

गरम अथवा ठंढे किसी प्रकार के जल से स्नान करें; परन्तु वह स्वच्छ और शुद्ध हो। जल की स्वच्छता स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है। स्वच्छता के विषय में अनेक विद्वानों का मत है—"स्वच्छ जल और भोजन आयुवर्द्धक हैं।" पाइप और कुएँ के जल की अपेक्षा नदी का जल अधिक स्वास्थ्यप्रद होता है। उसमें एक प्रकार का क्षार होता है, जो बिना किसी प्रकार की सहायता के ही बदन की मैल को साफ़ कर देता है। किन्तु नदी का जल उतने ही समय तक के लिए उपयोगी है, जब तक कि वह पूर्णरूप से स्वच्छ रहता है। वर्षा-ऋतु में नदी के जल के विषय में महर्षि "सुश्रुताचार्य" कहते हैं—

कीटसूत्रपुरीषाण्डशवकोथप्रदूषितम्।
तृणपर्णोत्करयुतं कलुषं विषसंयुतम्॥

योवगाहेतु वर्षासु पिवेद्वापि नवं जलम्।
सवाह्याभ्यन्तरान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेवतु ॥

अर्थ—कीड़े, मूत्र, मल, जानवरों के अण्डे, मुर्दे, तृण समूह, मैला, स्थावर जंगम विषयुक्त, जल में जो मनुष्य स्नान करता अथवा उसे पीता है, वह शीघ्र बाह्य और आभ्यन्तर व्याधियों से पीड़ित होता है।

इसका आशय बिलकुल स्पष्ट है। जो मनुष्य वर्षा-ऋतु में नदियों में स्नान करता है, उसे प्रायः दद्रु अवश्यमेव हो जाता है, और पीनेवाले को प्रायः उदर-रोग होता है। अतएव वर्षाऋतु में कूप और पाइप से ही काम लेना चाहिए।

स्नान करने के लिए ऋतुओं और नियमों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। प्रातःकाल और सायंकाल दो बार स्नान करना चाहिए। जो लोग दिन में चार-चार और पाँच-पाँच बार स्नान करते हैं, वे जान-बूझ कर रोग को बुलाते हैं।

"अति सर्वत्र वर्जयेत्।"

गंगा-जल

भारत में गङ्गा अत्यन्त प्राचीन एवं पुण्य-सलिला सरिता है। भारतीयों का ऐसा दृढ़ विश्वास है कि पृथ्वी के समस्त तीर्थों में गङ्गा ही सर्वश्रेष्ठ है। यहाँ तक कि मरते समय यदि एक बिन्दु

गङ्गाजल मनुष्य के मुँह में पड़ जाय, तो उसे मोक्ष प्राप्त होता है। गङ्गा की महत्ता का वर्णन करते हुए 'पण्डितराज जगन्नाथ' कहते हैं—

प्रभाते स्नातीनां नृपतिरमणीनां कुचतटी-
गतो यावन्मातर्मिलति तवतोयैर्मृगमदः।
मृगास्तावद्वैमानिक शतसहस्रैः परिवृताः,
विशन्ति स्वच्छन्दं विमलवपुषो नन्दनवनम्॥

अर्थ—हे माता! प्रातःकाल तुम्हारे जल में स्नान करती हुई राजाओं की स्त्रियों के स्तन में लगा हुआ मृग-मद (कस्तूरी) धुलकर जवतक तुम्हारे जल में मिलता है; उतने ही में वे मृग दिव्य-शरीर धारण कर लाखों देवताओं के वीच विमान में वैठकर अपनी इच्छानुसार नन्दन-वन पहुँच जाते हैं।

वास्तव में गङ्गाजल के समान शुद्ध, पवित्र एवं उत्तम जल संसार में दूसरा नहीं है। भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न हो पहले गङ्गा 'विन्दु-सरोवर' में गिरी। वहाँ से गङ्गा की सात धाराएँ हुईं। रादिनी, पावनी और नालिनी—ये पहली तीन धाराएँ पूर्व की ओर; वंक्षु, सीता और सिन्धु—ये दूसरी तीन धाराएँ पर्वत-म्लापवेन और उपवनादि को बहाती हुईं पश्चिम की ओर; और तीसरी एक धारा भगीरथ के बताए हुए मार्ग से चली। यही धारा जब समुद्र में जा गिरी, तब भगीरथ के भस्मीभूत पूर्वज 'सागर-पुत्र' स्वर्ग सिधारे। कुछ लोगों का कथन है कि मेघ से जो वृष्टि होती है, उसी जल से गङ्गा की उत्पत्ति है।

पुण्य-सलिला भागीरथी के दर्शन-मात्र से ज्ञान, ऐश्वर्य, आयु, प्रतिष्ठा और सद्बुद्धि प्राप्त होती है। अनेक प्राचीन धार्मिक ग्रंथों के अवलोकन से मालूम हुआ है कि गङ्गा में शौच, आचमन (दातुन-कुल्ला), निर्माल्य (पहनी हुई चीज को उतार कर फेंकना), मल-घर्षण (कपड़े पछाड़ना या साबुन लगाना या बर्त्तन मलना), गात्र-मर्दन, क्रीड़ा, दान-ग्रहण, अभक्ति, अन्य तीर्थों की निन्दा या अप्रतिष्ठा, मल-मूत्र-परित्याग आदि कार्य न करना चाहिए। कुछ लोगों की यह धारणा हो सकती है कि ये धार्मिक ढोंग हैं; भला इनसे क्या हानि हो सकती है? पर यह उनकी बड़ी भारी भूल है। जितने कार्य गङ्गा में न करने चाहिएँ, उन सबों का स्वास्थ्य-रक्षा से घना सम्बन्ध है; क्योंकि ये जितने कार्य हैं, सभी जल को दूषित करने वाले हैं। इन बातों में जितनी लापरवाही की गयी है, उसका प्रत्यक्ष फल है कि जहाँ पहले गङ्गा-जल पान कर लोग स्वस्थ रहते थे, वहाँ आज जल की खराबी के कारण वही अनेक रोगों के शिकार हो रहे हैं। अब नीचे लिखे गुण-दोषों से स्पष्टतया मालूम हो जायगा कि कहाँ के गङ्गा-जल का क्या गुण है।

जहाँ से गङ्गा की उत्पत्ति है, उस स्थान को 'गङ्गोत्तरी' कहते हैं। हिम से आवृत हिमालय और 'सिमला' नगर के दक्षिण एवं पूर्व के कोने में गङ्गोत्तरी है। यह समुद्र-तल से ९२०० हाथ की ऊँचाई पर है। गंगोत्तरी के निकट गंगा की चौड़ाई केवल अठारह हाथ ही है। उस जगह की गहराई भी एक हाथ से अधिक नहीं है;

किन्तु वहाँ के वेग का पारावार नहीं है। साधारण चीज का उस वेग के सामने टिक सकना असंभव है। वहाँ का जल प्रस्तर-खण्ड एवं मृत्तिका मिला हुआ बड़े वेग से बहता रहता है। निघंटु के अनुसार वहाँ का जल—भारी, कफ-कारक, रुचिनाशक, पाण्डुरोग-जनक, वद्धक एवं अहितकर है। ज्यों-ज्यों गंगोत्तरी से आगे बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों गंगा का जल शुद्ध और स्वास्थ्य-वर्द्धक होता जाता है। क्रम से नीचे आते-आते इसकी गहराई बढ़ी है, वेग कम हुआ है और लगभग बीस बड़ी नदियाँ आकर इसमें मिल गयी हैं।

गंगोत्तरी से चलकर 'देवप्रयाग' और 'हृषीकेश' होती हुई गंगा हरद्वार आई हैं। इसके पूर्व 'देवप्रयाग' में अलकनन्दा नदी आकर गंगा में मिली हैं। इन सब जगहों से उत्तम जल हरद्वार का ही है। गंगाजल का वर्णन करते हुए महर्षि आत्रेयजी हारीत से कहते हैं—

आन्तरीक्षं तु द्विविधं गाङ्गं सामुद्रिकं पयः।
गङ्गा सामुद्रविज्ञानं कथयिष्यामि सांप्रतम्॥
धारितं येन पात्रेण लक्ष्यते तेन तद्विधं।
धौतं शुद्धं सितं वस्त्रं चतुर्हस्तप्रमाणकम्॥
दण्डास्त्रिहस्ताश्चत्वारश्चतुष्कोणेषु बन्धयेत्।
तस्मात् परीक्ष्यं तत्तोयं शुद्धे रौप्यमयेथवा॥
काँस्यपात्रे समुद्धृत्य परीक्षेत् विभिषग्वरः।
शुद्ध कार्पासतूलं वा श्वेतशाल्योदनस्य वा॥

पिण्डिका तत्समाच्छ्रिसां श्वेततां याति सा पुनः ।
श्वेता तु निर्मला पिण्डी शुद्धं च निर्मलं पयः ॥
तद्गाङ्गं सर्वदोषघ्नं गृहीताङ्गे सुभाजने ।
तद्धारयेच्च मतिमान् वल्यं मेध्यं रसायनम् ॥
श्रमक्लमपिपासाघ्नं कण्डूदोपनिवारणम् ।
लघुमूर्च्छातृपाच्छर्दिमूत्रस्तम्भ विनाशयेत ॥

अर्थ—आन्तरीक्ष जल दो प्रकार का है—एक गांगेय और दूसरा सामुद्रिक । अब मैं तुम्हारे प्रति गङ्गा और समुद्र के विज्ञान का वर्णन करता हूँ । जिस पात्र में जल होगा, उसीके अनुसार लक्षण मालूम पड़ेंगे । धुला हुआ श्वेत वस्त्र चार हाथ लेकर तीन-तीन हाथ के डंडों में उसके चारो कोने बाँध दें । उसके बीच में शुद्ध चाँदी अथवा काँस के बर्तन में उस जल की परीक्षा करें । शुद्ध कपास की रुई अथवा शालि चावलों का भात पिण्ड बनाकर उस जल में डाल दें । ऐसा करने पर भी यदि जल और पिण्ड दोनों स्वच्छ एवं निर्मल रहें, तो उस जल को शुद्ध गङ्गा-जल समझना चाहिए । ऐसा गंगा-जल सर्वदोप-नाशक है । ऐसे जल को सुन्दर पात्र में बुद्धिमान् ग्रहण करे । यह जल बलकारक, बुद्धिवर्द्धक, रसायन तथा श्रम-क्लम (थकावट), प्यास, कण्डू (खाज), मूर्च्छा, वमन और मूत्र-स्तम्भ (कड़क) का नाश करता है, एवं हल्का है ।

उपर्युक्त परीक्षा में उत्तीर्ण होकर गङ्गा जी हरद्वार से, फरुखाबाद में रामगङ्गा से मिलती हुई, कन्नौज होकर, कानपुर आई

हैं। हरद्वार के बाद कानपुर का ही जल शुद्ध होता; किन्तु कानपुर में जल रोककर उसमें सन और चमड़ा धोया जाता है। इस तरह जब पहले का लिया हुआ जल गंदा हो जाता है, तब उसे छोड़कर दूसरा जल लेते हैं। इससे कानपुर में गङ्गाजल बहुत दूषित हो गया है।

गङ्गोत्तरी से ३३४ कोस पथ-भ्रमण करके गङ्गा ने प्रयाग में आ कर, यमुना के साथ मिलकर, प्रचुर विस्तार बढ़ाया है। यहाँ का जल देर से पचने वाला, स्वाद में फीका और वातकारक है। हरद्वार में जो गुण गङ्गा का बताया गया है, उसके अतिरिक्त यमुना का जल वातकारक, रूखा और भारी है।

प्रयाग से विंध्याचल, मिर्जापुर और चुनार होती हुई गङ्गा सीधे काशी आई हैं। काशी में इस पार (शहर के नजदीक) का जल तो थोड़ा दूषित है; किन्तु बीच और जरा दूर उस पार का जल पाक और रस में स्वादिष्ट, शीतल, त्रिदोष-नाशक, पवित्र, अत्यन्त पथ्य और परम मनोहर है। काशी में 'आदि-केशव-घाट' के बगल में 'वरुणा' नदी आकर मिली है। फिर आगे चलकर मारकण्डेय के पास गोमती नदी आकर गङ्गा में गिरी हैं। इससे यहाँ का जल पाचक है।

यहाँ से आगे चलकर गाजीपुर होती हुई गङ्गा सीधे छपरा पहुँचती है। छपरा के पास सरयू नदी आकर गङ्गा में मिली है। इससे पहले ही, रास्ते में, बक्सर के पास, कर्मनाशा नदी मिली

है। 'आरा' नगर के समीप शोणभद्र महानद आकर मिला है। कर्मनाशा के जल का विशेष प्रभाव गङ्गाजल पर नहीं पड़ा है; पर सरयू और सोन के जलों का प्रभाव अवश्य पड़ा है। सोन शुद्ध वालुकामय नद है, इसलिए उसके जल के संसर्ग से वहाँ का गङ्गा-जल मधुर, पाचक, हल्का और शीतल होता है। सरयू के जल ने भी गङ्गाजल में कोई विकार नहीं उत्पन्न किया है; बल्कि उसकी गुणकारिता में वृद्धि ही की है। दानापुर और पटना के बाद गंडकी नदी मिली है। वहाँ का जल थोड़ा वातकारक और खुजली पैदा करने वाला होता है। उसके बाद मुँगेर और सुलतानगञ्ज होती हुई सीधे भागलपुर गंगा गई है। भागलपुर के बाद कोशी नदी मिली है। वहाँ का जल भी गरिष्ठ और खाज पैदा करने वाला है। ब्रह्मपुत्र की धारा फरीदपुर के पास आकर मिली है। उसके बाद ग्वालन्द होकर पूर्व की ओर गङ्गा गई है—वह धारा पद्मा कहलाती है। राजमहल के पास गङ्गा की दो धाराएँ हो गई हैं। एक चन्दन-नगर, हुगली और कलकत्ता होकर दक्षिण की ओर बहती है, जिसे 'हुगली' कहते हैं। जहाँ से गङ्गा और पद्मा विभिन्न-मुख हुई हैं, वहाँ से गङ्गा का डेल्टा (Delta) आरम्भ होता है। कल-कत्ते से दक्षिण की ओर जाकर, सागर-टापू के पास, समुद्र में गंगा मिली है। सागर-टापू के पास, जल की अधिकता से, सघन जंगल रहता है। उसी स्थान को 'सुन्दरवन' कहते हैं। यहीं, सुन्दरवन के पास, गंगा-सागर-संगम है। समुद्र के मिल जाने से गंगाजल का

गुण बदल जाता है। समुद्र के जल का वर्णन करते हुए महर्षि आत्रेय जी कहते हैं—

अविलं समलं नीलं घनं पीतमथापि च।
सक्षारं पिच्छिलं चैव सामुद्रं तन्निगद्यते॥
सघनं कफकृच्चैव कण्डूश्लीपदकारकम्।
सवातलं च विज्ञेयं रक्तदोषार्तिकारणम्॥

कलुषतायुक्त मलसंयुक्त (गँदला), नीला, भारी, पीला, क्षार-सहित और पिच्छिलता युक्त (चिकना) मेघ के जल को सामुद्रिक जल समझना चाहिए। समुद्र का जल—कफकारक, खाज और श्लीपद रोग (फीलपाँव) करने वाला, वादी और रक्तविकार-कारक है। समुद्र में मिलकर गंगा-जल का गुण नष्ट हो जाता है और समुद्र के जल की प्रधानता हो जाती है।

शुद्ध जल में स्नान करने से बड़ा लाभ होता है। धाराजल में एक प्रकार का क्षार रहता है, जो चमड़े के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस बात को आधुनिक वैज्ञानिक जगत् भी स्वीकार करता है। गंगा-जल में स्नान करने से शरीर और मन दोनों स्वच्छ हो जाते हैं। स्नान के विषय में महर्षि चरक कहते हैं।

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसंधानं स्नानमोजस्करं परम्॥

स्नान—पवित्र; वृष्य (बलवर्द्धक); आयुवर्द्धक; श्रम, स्वेद और मल को दूर करनेवाला तथा उत्साह बढ़ाने वाला है।

अस्तु। स्नान से कितना लाभ होता है, इसे अब अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं। अबतक जो कुछ भी बतलाया गया है, वह शुद्ध गंगा-जल के विषय में है। इसके अतिरिक्त अशुद्ध गंगा-जल के विषय में भी थोड़ा ज्ञान रखना आवश्यक है। यह बात स्पष्ट है कि, शुद्ध जल से जितना लाभ होता है, अशुद्ध से उससे कहीं अधिक हानि भी होती है।

और ऋतुओं में गंगा-स्नान करके जितना लाभ उठाया जाता है, वर्षा-ऋतु में गंगा-स्नान करके उससे कहीं अधिक हानि भी उठाई जाती है। वर्षा-ऋतु में जल बढ़ने के कारण जानवरों और वृक्षों के विष जल में मिल जाते हैं तथा गंगा-तट की बहुत-सी गन्दी चीजें बहकर चली आती हैं। वर्षा-ऋतु के नदी-जल के विषय में महर्षि सुश्रुताचार्य कहते हैं—

कीड़े, मूत्र, पुरीष (मल), जानवरों के अण्डे, मुर्दे, तृण-समूह, मैल एवं स्थावर और जंगम विष से युक्त जल में जो मनुष्य स्नान करता है अथवा उसे पान करता है, वह शीघ्र बाह्य और आभ्यन्तर व्याधियों से पीड़ित होता है।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि जो मनुष्य वर्षा-ऋतु में भी गंगा-स्नान किया करते हैं अथवा गंगाजल पीते हैं, उन्हें दाद और खुजली की अनेक बीमारियाँ होती हैं। भीतरी उदर-सम्बन्धी भी अनेक व्याधियाँ होती हैं।

चेचक, अभिष्यन्दी (आँख का उठ आना), मूत्रविकार एवं

समस्त नेत्र सम्बन्धी रोगों में औषधि एवं खान-पान सभी कार्यों में शुद्ध गंगाजल काम में लाना चाहिए। प्रायः गंगाजल सभी रोगों में व्यवहार किया जा सकता है; किन्तु उपर्युक्त रोगों में शुद्धता के खयाल से इसका व्यवहार करना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि ये रोग जरा-सी अशुद्धता से जीवन-व्यर्थ कर देते हैं। जलोदर-रोग में भी गंगाजल अत्यन्त पथ्य है। इस रोग में जिस समय कोई भी जल नहीं दिया जाता, उस समय भी गंगाजल का व्यवहार किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए गंगा की बीच धारा में जाकर जल लाना चाहिए; क्योंकि गंगा के किनारों का जल मैला और दूषित होता है। बीच धारा का जल भी गरम करके देना चाहिए। केवल गंगा में स्नान करने और गंगा-जल पान करने से भयंकर प्रमेह भी नष्ट हो सकता है।

गंगा में तैरने से भी बड़ा लाभ होता है। ज्वर के अतिरिक्त जिसे किसी प्रकार की कफ-जन्य व्याधि हो, उसे अवश्य तैरना चाहिए। तैरने से कफ का नाश होता है। थोड़ा वायु अवश्य बढ़ता है; किन्तु तैरने के बाद थोड़ा घूम लेने से उसका भी शमन हो जाता है।

गंगाजल अमृत है। गंगा की महिमा अपरम्पार है।

भोजन

मनुष्य के लिए ही क्या, जीव मात्र के लिए आहार बहुत ही आवश्यक है। जल-वायु और आहार में केवल इतनी विभिन्नता है कि जल-वायु विना जीवन स्वल्प समय में ही नष्ट हो जाता है; किन्तु आहार विना कुछ समय तक वह रह सकता है। तथापि मानव-शरीर के कितने ऐसे तत्त्व हैं, जो कुछ समय तक आहार न मिलने से एकदम नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य-शरीर दिन-रात क्रिया-शील रहता है। इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि उसकी सहायता के लिए कुछ-न-कुछ पोषक तत्त्व अवश्य दिया जाय। इसी आहार के विषय में महर्षि सुश्रुताचार्य कहते हैं—

आहारः प्राणिनः सद्यो बलकृद्देहधारकः।
आयुस्तेजः समुत्साहः स्मृत्योजोग्निविवर्द्धनः॥

आहार—प्राणियों के लिए सद्यः बलकारक, देह धारक; तथा आयु, तेज, उत्साह, स्मृति, ओज और अग्निवर्द्धक है।

शरीर में कई प्रकार के पित्त अवस्थित हैं, उनमें पाचक पित्त का कार्य है, भोजन पचाना। हम लोग जो भोजन करते हैं, वह पाचक पित्त-द्वारा पचकर दो भागों में विभक्त होता है। एक भाग मल होकर पुरीष स्थान में चला जाता है। दूसरे का रस बनता है। मानव-शरीर की रचना सप्त धातु से हुई है। कहा है—"रसा-सृक् मांस मेदोस्थि मज्जा शुक्राणि धातवः।" रस, रक्त, मांस,

मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन्हीं सातों से निर्मित यह शरीर है। भोजन का सबसे पहला तत्व रस है। रस के बाद रक्त बनता है। रक्त के बाद मांस बनता है। यदि मांस को हम जमता हुआ रक्त कहें, तो हानि नहीं; क्योंकि पहले रक्त के कण बनते हैं। वे ही कण समय पाकर मांस के रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि जो मनुष्य अच्छा भोजन करता है और सुखपूर्वक बैठा रहता है, उसका शरीर अधिक मांस-युक्त होता है; क्योंकि उसे श्रम तो करना नहीं पड़ता और रक्त-कण बराबर बँधते जाते हैं। किन्तु जो श्रम करते हैं, उनके शरीर में पित्त बढ़ने से पहले के कुछ अपरिपक्व रक्त-कण भी पित्त की उष्णता के कारण पुनः अपने रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं। अतः जो परिश्रमी हैं, उन्हें भोजन समय पर करके पित्त को शान्त कर अपने स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए।

बाल्यावस्था से लेकर पचीस वर्ष की अवस्था तक मनुष्य बढ़ता है। उसमें भी बारह वर्ष तक अधिक और उसके उपरांत बहुत ही कम और अत्यन्त मन्थर गति से बढ़ता है। अतएव जिसे पचीस वर्ष की अवस्था तक शुद्ध आहार मिलता रहेगा, उसका स्वास्थ्य अवश्य ही उत्तम रहेगा। अंग-प्रत्यंग और धातु-उपधातु सभी शुद्ध आहार-निर्मित रहेंगे। इसके अतिरिक्त जहाँ तक सम्भव हो, शुद्ध आहार ही करना उचित है। साथ ही जिस समय भूख लगे, उस समय उचित मात्रा में भोजन अवश्य करना चाहिए।

कुछ लोग आहार की मात्रा पर भी विशेष जोर देते हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को कम-से-कम और अधिक-से-अधिक इतना खाना चाहिए। किन्तु यह मान भारतीयों के लिए तो कभी भी सम्भव नहीं हो सकती। तथापि भोजन की मात्रा सदैव संयम के साथ लेनी चाहिए। प्रतिदिन केवल एक ही चीज खाने अथवा एक ही मात्रा में खाने से मनुष्य की जठराग्नि विकृत हो जाती है। सदैव भोजन के पदार्थों एवं उसकी मात्रा में परिवर्त्तन करते रहना चाहिए।

किन्तु एक बात विचारणीय अवश्य है। वह यह कि भोजन दो प्रकार के होते हैं, एक लघुपाकी और दूसरा गुरुपाकी। लघुपाकी भोजन स्वास्थ्य के लिए अधिक उपयोगी होता है और कभी-कभी थोड़ी मात्रा में अधिक हो जाने पर भी हानि नहीं करता। किन्तु गुरुपाकी भोजन थोड़ा भी अधिक हो जाने पर अनेक रोग उत्पन्न कर देता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इतना भोजन करना चाहिए, जिसमें उसकी क्षुधा शान्त हो जाय; किन्तु अधिक भी न होने पाए। इतना ज्ञान प्रत्येक शिक्षित और अशिक्षित व्यक्ति को होता है। कहा है—

द्वौभागौ पूरयेदन्नैर्भागमेकं जलेन तु।
वायुसंचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥

दो भाग अन्न से और एक भाग जल से पूर्ण करना चाहिए, और वायु-संचार के लिए चौथा भाग छोड़ देना चाहिए।

इस प्रकार उस दो भाग के भी तीन भाग कर देने चाहिएँ। अर्थात् एक भाग अन्न से, एक भाग शाकादि से और एक भाग तरल दुग्ध और छाछ आदि से पूर्ण करना चाहिए। इस तरह का नियम पालन करने से भोजन अत्यन्त हितकर होता है। इसके अतिरिक्त भोजन की मात्रा क्षुधा पर निर्भर करती है।

हमारे दैनिक जीवन के व्यवहार में आने वाले अनेक भोज्य पदार्थ ऐसे हैं जो एक-दूसरे के साथ मिलकर जीवन पर्यन्त के लिए शरीर एवं स्वास्थ्य को नष्ट कर देते हैं। उनमें भी कई ऐसे हैं जो वाहर ही एक साथ मिलने पर विकार उत्पन्न करते हैं। जैसे—सरसों का शाक, भेड़ का दूध, कटहल, उड़द और नया गुड़ आदि। इनमें कुछ ऐसे होते हैं, जो अलग-अलग भी भीतर जाकर विगाड़ पैदा कर देते हैं। जैसे—खिचड़ी-दूध, देशी मद्य और दूध, दूध और मछली, जल के साथ घी या तेल, अदरख के साथ मकोय का शाक, घी और तेल तथा पका कटहल और पान का वीड़ा। इस लिए यदि गलती से कभी संयोग-विरुद्ध पदार्थ खाने में आ ही जाय, तो तुरत कै करके उपवास करना चाहिए। संयोग विरुद्ध पदार्थों के विकार का शमन उपवास से ही हो सकता है।

आहार तीन प्रकार का होता है—फलाहार, अन्नाहार और मांसाहार। इन तीन प्रकार के अहारों की तीन श्रेणियाँ हैं। सर्वोत्तम आहार फलाहार ही है। उसके वाद द्वितीय श्रेणी का अन्नाहार है। किन्तु तृतीय मांसाहार तो महानिकृष्ट ही क्या त्याज्य है।

प्रकृति ने जठराग्नि का निर्माण केवल खाद्यपदार्थ फल और अन्न पचाने के लिए ही किया है। मांस हमारा खाद्य कदापि नहीं हो सकता। फल और अन्न सात्विक होते हैं। सतोगुण प्रधान होते हैं। अतएव उनके खाने से हमारा मन-मस्तिष्क पूर्ण शान्त रहता है। आत्मोन्नति के कार्यों में पूर्णरूपेण चित्त लगता है। मस्तिष्क कभी उत्तेजित नहीं होता। फलाहार और अन्नाहार में भी ऐसे अनेक पदार्थ हैं जो रजोगुण और तमोगुण प्रधान हैं। उनके खाने से निश्चय ही रजोगुण और तमोगुण का प्रादुर्भाव होता है। अतएव ऐसे पदार्थ नहीं खाने चाहिएँ। प्याज, लहसुन, सलगम आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इसके लिए विचार कर लेना चाहिए कि हमारे धर्म-शास्त्रों ने जिन पदार्थों के खाने की आज्ञा नहीं दी है, उनमें क्या रहस्य है? इसका पता केवल ऊपर लिखे पदार्थों में से कोई एक पदार्थ खाकर लगाया जा सकता है।

वैज्ञानिकों ने मांसाहार के विषय में यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के दाँत ही मांस खाने लायक नहीं हैं; क्योंकि लम्बे और नुकीले दाँत ही मांस को फाड़ सकते हैं। ऐसे दाँत हिंसक जीव-जन्तुओं के ही होते हैं। इसके अतिरिक्त मांस-भक्षण ने ही मनुष्य को मद्यप भी बनाया है। कुछ लोग यह कहते पाए जाते हैं कि आयुर्वेद में मांस का गुण है, अतएव यह मनुष्य का भोज्य पदार्थ है। किन्तु यह कोई दलील नहीं है; क्योंकि आयुर्वेद में गोमांस और वाराहमांस का भी गुण-दोष वर्णन है। फिर मनुष्य

इनका भक्षण क्यों नहीं करते ? मौसम के अनुसार फलों के भोजन में परिवर्त्तन अवश्य करना पड़ता है। जाड़े के दिनों में सूखे फल अधिक और हरे कम तथा गरमी के दिनों में हरे अधिक और सूखे कम खाने चाहिएँ। किन्तु भूख से अधिक और अतिमात्रा में किया हुआ सभी प्रकार का आहार रोग का कारण बन जाता है।

दिन भर में तीन काल होते हैं। प्रत्येक काल चार-चार घंटे तक रहता है। अर्थात् छः बजे से दस बजे तक कफकाल और दस से दो तक पित्तकाल और दो से छः बजे शाम तक वातकाल होता है। अतएव दिन में दस बजे के बाद और ग्यारह बजे से पहले भोजन कर लेना चाहिए। किन्तु रात के समय कफक्षय काल की प्रतीक्षा न कर आठ-नौ बजे तक भोजन कर ही लेना चाहिए। इन दो समयों के भोजन के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार जलपान आदि किया जा सकता है। परिश्रमी, बालक, युवा और वृद्धों को दिन में कई बार खाने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

भोजन के लिए स्थान पाकशाला के अतिरिक्त शुद्ध, स्वच्छ, नीरव, एकान्त और चित्त को प्रसन्न करने वाला होना चाहिए। जहाँ पर किसी प्रकार भी तबीयत बिगड़ने की आशंका हो, वहाँ भोजन न करना ही उचित है। ऐसी जगह में किया भोजन स्वास्थ्य के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। उचित स्थान में बैठकर पहले कड़ा भोजन करना चाहिए, उसके बाद मुलायम और उसके बाद तरल एवं पेय पदार्थ भक्षण करना चाहिए। भोजन में तरल और

पेय पदार्थ को छोड़कर अन्य सभी भक्ष्य पदार्थ खूब चबा-चबा कर खाने चाहिएँ। जितना ही अधिक चबाकर भोजन किया जायगा, वह उतना ही अधिक सुपाच्य और हितकर होगा; क्योंकि चबाने से मसूढ़े के भीतर से एक प्रकार की लार निकलती है, वह भोजन के साथ लिपटकर पेट में जाती और पाचन क्रिया में सहायता पहुँचाती है। वह लार जितनी ही अधिक मात्रा में पेट में जायगी, भोजन उतनी ही जल्दी पचेगा।

कुछ लोग भोजन के समय एकदम जल नहीं पीते, कुछ देर बाद एक साथ जल पी जाते हैं। कुछ लोग भोजन कर चुकने पर एकदम जल पी लेते हैं। कुछ लोग गरम भोजन करते और ठंढा जल पीते हैं। यह सब बातें अत्यन्त हानिकारक हैं। भोजन के साथ थोड़ा-थोड़ा जल पीना चाहिए। अत्यन्त गरम भोजन न करना चाहिए। भोजन के समय निश्चिन्त होकर भोजन करना ही स्वास्थ्य के लिए हितकर एवं उपयोगी होता है।

छाछ या मट्ठा

कब्ज के कारण शरीर में से मल निकल जाने के बदले अन्दर-ही-अन्दर सड़ा करता है। सड़ जाने पर उसके छोटे-छोटे कण रक्त के साथ मिल जाते तथा रक्त-वाहिनी नाड़ियों में प्रवेश करके जम जाते हैं। परिणाम-स्वरूप नाड़ियाँ फूलने लगती हैं और उनमें गाँठ-सी पड़ जाती है। रक्त का यथा-स्थान जाना बन्द हो जाता है। अँगों में रक्त बराबर न पहुँचने से, शरीर वृद्धों की तरह शिथिल-सा होने लगता है। मस्तिष्क, नेत्र, हृदय, उदर (आमाशय, पक्वाशय), जननेन्द्रिय आदि अवयव व्याधि-ग्रस्त अथवा शिथिल मालूम होने लगते हैं।

देशी और विदेशी विद्वानों का मत है कि गाय के दूध का दही जम जाने के पश्चात् उसका छाछ बनाकर प्रतिदिन पी जाया करें, तो बहुत ही लाभ हो। इससे रक्त-वाहिनी नाड़ियों में जो मल संचित हो जाता है, वह गल कर साफ हो जाता और फिर पेट या शरीर में किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होने पाती। रुधिराभि-सरण को भी अच्छी सहायता मिलती है। अल्पायु में वृद्धावस्था के चिह्न, जो बहुत लोगों में आ जाया करते हैं, वे कदापि नहीं आते। शरीर बलिष्ठ, सुगठित तथा सुन्दर हो जाता है।

छाछ में जठराग्नि प्रदीप्त करने का गुण होने से विकृत पदार्थ नहीं उत्पन्न हो पाते, और यदि किसी कारणवश शरीर में विकृत

पदार्थ उत्पन्न भी हो जायँ, तो उनसे हानि नहीं होती; क्योंकि छाछ अपने मल-शोधक (दस्त साफ करने वाले) गुण से उसे बाहर निकाल देता है। इससे रक्त, मांस, मेद, मज्जा और वीर्य आदि में किसी तरह की व्याधि का उद्भव नहीं हो पाता।

अनेक प्रकार के रोगों पर, आयुर्वेद में मट्ठा या छाछ का सेवन करना लाभदायक बताया है।

प्रत्येक रोगी और नीरोग मनुष्य को हर ऋतु में छाछ का सेवन पथ्य बतलाया गया है। अनेक आदमियों को केवल छाछ पर ही जीवन व्यतीत करते देखा जाता है। अनुभव भी इस बात की पुष्टि करता है कि छाछ का पीना उपयोगी है। वैद्यक-शास्त्र भी मट्ठे को अनेक रोगों का दूर करने वाला बतलाता है और एक बहुमूल्य सम्मति प्रदान करता है कि यदि मट्ठा औषध के रूप में, मात्रा का ध्यान रखते हुए पिया जाय, तो बहुत ही लाभदायक सिद्ध होगा। गाँवों में तो इसका बहुत उपयोग होता है। इस बात का ध्यान रहे कि जब मट्ठा पिया जाय, तो किसी मिट्टी के बर्तन या कलई किये हुए बर्तन में ही पिया जाय, जिसमें मट्ठे की खटाई के प्रभाव से उस बर्तन का—ताम्र या पीतल का—भाग मट्ठे में न मिल सके। मट्ठा पीने वाले महानुभावों को चाहिए कि वे मात्रा स्वयं ही निश्चित कर लें। एक गिलास, दो गिलास या आधा गिलास अपनी प्रकृति के अनुसार पिएँ। निम्न-लिखित अनेक रोगों में मट्ठे से पूर्ण लाभ होते देखा गया है।

तीन रत्ती छोटी पीपल का चूर्ण बनाकर मट्ठे में मिलाकर पीने से खाँसी और छाती का कफ दूर होता है। अजीर्ण होने पर सेंधा नमक और काली मिर्च पीसकर मट्ठे में मिलाकर पीने से पेट साफ होता है। गर्मी के ज्वर में शक्कर और छाछ मिलाकर पीने से आराम होता है। दस्त और शूल में जीरे और शक्कर को मट्ठे में मिलाकर पिलाने से आराम होता है। मस्तिष्क की गर्मी में जेठी मधु की जड़ को मट्ठे के साथ पीने से ठंढक होती है। नेत्र की ललाई में, दर्द में या गर्मी में केवल मट्ठे का सेवन करना चाहिए। आवाज बैठने पर भुने हुए बहेड़े की छाल के चूर्ण को मट्ठे में मिलाकर पिलाने से गला खुल जाता है। छाती के दर्द और धड़कन में पिपलामूल के चूर्ण को मट्ठे में मिलाकर पिलाया जाय। खून के दस्त होने पर बेल की गुद्दी को मट्ठे में मिलाकर पिलाया ज़ाय। वातार्श में गुड़ के साथ, पित्तार्श में इन्द्रजव के साथ, और साँप के दंश पर सिरस की छाल के काथ के साथ दिया जांय। कमर के दर्द में लहसुन के रस को मट्ठे में मिलाकर पिलाएँ। सब प्रकार के ज्वर में काकमाची के चूर्ण को छाछ में मिला कर देना चाहिए। सिर-दर्द या आधा शीशी में जायफल के साथ, पेट में कृमि पड़ जाने पर वायबिडंग के चूर्ण के साथ, सुवा रोग में त्रिकटु के चूर्ण के साथ दिया जाय। शुक्र-प्रमेह में गोखरू के साथ पीसकर लेप किया जाय।

उपर्युक्त अनुपान अथवा जड़ी-बूटियों के साथ मट्ठा, रोगी को

देने से वह रोग से मुक्त हो जायगा। इसके अतिरिक्त स्त्री, बालक, युवा, वृद्ध, रोगी, नीरोग, सब को मट्ठा पीना लाभदायक है। इसीलिए मट्ठे को "मर्त्य-लोक का अमृत" कहा गया है।

जब मट्ठा हमारे लिए ऐसे उत्तम और सर्व रोगों को दमन करने वाले अमृत के रूप में उपस्थित है, तो क्यों नहीं हम उसका सेवन करते? जो सुख और शान्ति हमें मट्ठा और रोटी से मिल सकती है, वह तीन-चार बार काफी, चाय या सोडा पीने से कभी नहीं मिल सकती।

फलों की उपयोगिता

गरम देश भारतवर्ष में यों ही भोजन कम किया जाता है। तिस पर गरमी के दिनों में, तो सिवा पानी के और किसी चीज की इच्छा ही नहीं होती। जो कुछ जीव-रक्षार्थ खाया भी जाता है, उसका भी विशेष जल पीने से ठीक-ठीक रस नहीं बन पाता। जिससे मनुष्य बहुत ही कमजोर हो जाता है तथा नाना प्रकार के रोग भी हो जाते हैं। ऐसे समय के लिए फल बहुत ही उपयोगी हैं।

गरमी के दिनों में दोपहर को थोड़ा सादा भोजन करना और तीन-चार अथवा दो ही बजे कुछ फलों का सेवन करना चाहिए। फलों में नारंगी, सेव, अनार, अँगूर, ककड़ी और कसेरू उत्तम हैं।

किस प्रकार प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है? दोपहर

में मिश्री का शर्वत घोलकर उसमें नारंगी का रस डाल कर अथवा कसेरू का रस डाल कर पी जाना चाहिए। यदि अधिक जल पीने के आदी न हों, तो थोड़ा-थोड़ा उसी तरह खाना चाहिए।

जिन लोगों की आदत सोने की हो उन्हें सो कर उठने के बाद और जो न सोते हों, उन्हें भी कम-से-कम भोजन करने के दो घंटे बाद फल खाना लाभदायक होता है। दोपहर के समय मुलायम ककड़ी खाने से चित्त शांत रहता एवं तरावट आती है। मोटी ककड़ी खाने से वायु बढ़ता तथा कभी-कभी वमन होने लगता है। कुछ लोग प्रातःकाल और सायंकाल ठंढाई छानने के आदी होते हैं। वे लोग बादाम और बाजार की बनी हुई ठंडाई में भाँग मिलाकर अथवा योंही छान जाते हैं। उनके लिए कसेरू की ठंडाई बहुत ही उपयोगी है।

बादाम, कासनी, सौंफ, खरबूजा का बीया, ककड़ी का बीया, गुलाब का फूल, काली मिर्च और थोड़ी धनियाँ; सबको थोड़ा-थोड़ा लेकर पीस-छानकर और मिला कर तैय्यार करलें, बाद उसमें कसेरू का रस थोड़ा-सा मिला कर पी जाँय। सुबह-शाम दोनों समय इसके सेवन से गरमी शान्त रहती, चित्त प्रसन्न रहता एवं सभी कार्यों में दिनभर चित्त लगता, और बड़ा परिश्रम करने पर भी थकावट नहीं आती। बराबर गरमी भर सेवन करने से किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होती, चाहे वह कितना ही परिश्रम करने वाला क्यों न हो!

सभी फलों में अनार सबसे अधिक गुणकारी है। अनार के सेवन

से वात, पित्त, कफ तीनों दोष शान्त रहते हैं। अग्नि बढ़ती है। यदि संयोग वश कभी अधिक भोजन कर लिया जाय, तो वह अजीर्ण का कारण नहीं होता; बल्कि आसानी से पच जाता है। शर्बत अनार को पानी में घोलकर पीने से भी लाभ होता है। अनार के बाद अँगूर ही अधिक उपयोगी है। अँगूर दो प्रकार का होता है—छोटा और बड़ा। उन दोनों में से बड़ा अँगूर अधिक लाभदायक है। अँगूर यों भी खाया जाता है और शर्बत बना कर भी पिया जाता है। अनार हृदय के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तु है। अनार के सेवन से दिल मजबूत होता है। मीठे फल ही स्वास्थ्य के लिए अधिक लाभकारी हैं।

साधारणतया सभी लोग यह समझते हैं कि गरमी के दिनों में बरफ पीने से पिपासा शान्त हो जाती है; किन्तु यह खयाल बहुत ही भ्रम पूर्ण है। गरमी के दिनों में जितनी ही अधिक बरफ पानी में मिलाकर पीई जायगी, उतनी ही अधिक प्यास बढ़ेगी। प्राय: जो बड़े-बड़े शिक्षित हैं; प्यास लगने पर तुरंत कह उठते हैं—पानी में बरफ मिलाकर लाओ। यह नितांत सत्य है कि केवल बरफ का टुकड़ा मुख में रखने से प्यास शान्त होती है; परन्तु जल का संयोग होने से उतनी ही प्यास बढ़ती भी है। प्यास तालु स्थान से उत्पन्न होती है अतएव वही पदार्थ प्यास को शान्त कर सकता है, जो कुछ देर तक मुख में रहकर तालू से टकराएगा। प्राय: लोग गिलास को मुँह में लगाते ही गट-गट कर पी जाते हैं। किन्तु नहीं, पानी को थोड़ी देर तक मुँह में रखकर तब गले के नीचे उतारना चाहिए। बरफ मिला

हुआ पानी मुह में बिल्कुल नहीं ठहर सकता; क्योंकि अधिक शीतल पदार्थों से दाँतों से द्वेष है। अस्तु, वह झट गले के नीचे किसी-न-किसी प्रकार उतारना ही पड़ता है। फल स्वरूप प्यास शान्त नहीं होती। प्रायः लोग समझते हैं कि प्यास का संबंध उदराग्नि से है; परन्तु नहीं, उसका एक मात्र संबंध तालुस्थान से है।

दूसरा बरफ का प्रभाव भोजन करने पर पड़ता है। बरफ का जल पीने से प्यास शान्त नहीं होती, अतएव मनुष्य अधिक-से-अधिक जल पी जाता है। अत्यधिक जल की मात्रा हो जाने से वह भोजन थोड़ा ही कर पाता है; क्योंकि उसका पेट तो जल से ही भरा रहता है। धीरे-धीरे रस की कमी हो जाती है और मनुष्य अत्यंत दुर्बल हो अनेक रोगों के पंजे में फँस जाता है। यदि कफ प्रकृति हुई, तो वह सीधे मौत को निमंत्रण देने लगता है। अधिक जल पीने से कफ की वृद्धि होती है। कफ क्षुधा को एकदम शाँत कर देता है। धीरे-धीरे उसे अनेक रोग पकड़ लेते हैं।

तीसरा प्रभाव बरफ का अति भयंकर है। जल पीने के पहले कुछ खाने की प्रथा बहुत पहले से चली आती है। इसका मतलब यह है कि केवल जल पीने से अग्नि पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक देखा गया है कि कभी-कभी खाली जल दो-चार बार पीने से ही अग्निमाँद्य का रोग हो गया है। जहाँ केवल जल मात्र से अग्निमाँद्य होता है, वहाँ यदि केवल बरफ मिला हुआ जल पिया जाय, तो कितनी भयंकर हानि होगी, यह सहज ही समझा जा सकता है!

चौथी हानि बरफ के जल पीने से यह होती है कि किसी-किसी को अधिक पेशाब आने लगता है। इसका कारण यह है कि जो गाढ़ा पदार्थ होता है उसका परिपाक होकर रस बनता और उसके बाद रक्तादिक धातु बन जाते हैं, और जो तरल पदार्थ होता है, जैसे—जल आदि वह सीधे वस्तिस्थान, अर्थात् मूत्राशय में चला जाता है।

धूम्र-पान

संसार-भर के डाक्टर, विज्ञान-वेत्ता, वैद्य और रसायन शास्त्रियों का मत है कि—'तम्बाखू मनुष्य के लिये विष है। तम्बाखू पीने, खाने और सूँघने वालों के लिये उन्होंने निम्न वक्तव्य प्रकाशित किया है; क्योंकि संसार के प्रायः आधे मनुष्य इस में फँसे हुए हैं।

तम्बाखू के अन्दर एक तैलीय वस्तु है, वही तम्बाखू की गंध है। उस चीज का नाम 'निकोटीन' है। वह तम्बाखू में १ से ८ भाग पर्यन्त प्रतिशत रहती है। तम्बाखू जितनी तेज होगी, उतनी ही अधिक 'निकोटीन' उसमें से निकलेगी। यह कहा जाता है कि एक पौंड तम्बाखू में जितनी निकोटीन निकलती है, वह सिर्फ तीन मिनट में २५०० कुत्तों का प्राण ले सकती है। जब यह निकोटीन शरीर में प्रवेश करती है, तो श्वास-नलिका की पतली झिल्ली में एक प्रकार का संकोचन और कड़ापन उत्पन्न कर देती है। इससे अनेक रोग हो जाते हैं।

'निकोटीन' से भी बढ़कर 'कोलोडाइन' नामक विष तम्बाखू के अंदर है, जो निकोटीन की तरह तैलीय तथा गन्ध में स्थित है। इसकी एक बूँद के बीसवें हिस्से से ही एक मेढ़क मर जाता है।

तम्बाखू के धुएँ में प्रूसिक एसिड नामक एक विष होता है। तम्बाखू या बीड़ी-सिग्रेट पीने वाले शौकीन धूएँ को नाक की राह निकालते हैं। इससे नाक में अनेक रोग हो जाते और सिर में चक्कर, सिर-दर्द आदि पैदा हो जाते हैं। जो लोग बीड़ी या सिग्रेट नहीं पीते, उन्हें यह धुआँ विष के समान मालूम होता है; यह सब को मालूम है।

तम्बाखू में फ़रफेरोल नामक भी एक विष होता है। वह बड़ा हानिकर है। एक सिग्रेट में से, एक छटाँक ह्विस्की के बराबर फ़रफेरोल निकलता है।

कार्बोनिक एसिड नाम की गेस भी तम्बाखू में होती है। यह फेफड़ों को बहुत जल्द खराब कर देती है और इसीसे तम्बाखू पीने वाले, क्षयरोग के बहुत जल्द शिकार होते हैं।

स्वास्थ्य और धर्म

हिन्दू-समाज में प्राचीन समय से यह रिवाज चली आती है कि पाखाने से आकर हाथों में मिट्टी लगाना, हाथ-पैर धोना, कपड़े बदलना। यह क्यों किया जाता है? मल में प्रायः छोटे-छोटे कीड़े होते हैं, वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि बिना किसी सूक्ष्म-दर्शी यन्त्र के दिखाई नहीं पड़ते। यदि अच्छी तरह से कपड़े वगैरह न बदले जायँगे, तो सम्भव है, कहीं शरीर में रह न जायँ। उनके रह जाने से अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। मिट्टी का उपयोग इसलिए किया जाता है कि हाथ की गन्दगी दूर हो जाय। मिट्टी में कीटाणुओं के नाश करने की स्वाभाविक शक्ति होती है और उसमें जो सोंधापन होता है, उससे चित्त प्रसन्न होता है। यदि आप उसकी तुलना साबुन से करें, तो पहले विचार करना चाहिए कि क्या वास्तव में साबुन मिट्टी से अधिक उपयोगी चीज है? नहीं, मिट्टी के लगाने से स्वाभाविक कोमलता रहती है और साबुन के लगाने से रूखापन। शुद्धता में भी मिट्टी की तुलना साबुन से नहीं की जा सकती।

भोजन के समय हाथ-पैर धोकर भोजन करने की जो परिपाटी है, वह स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी है। भोजन करने के समय अवश्य हाथ-पैर धो लेना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से चित्त शान्त हो जाता है और भोजन अच्छी तरह पेट भर

हो जाता है। अन्यथा भोजन स्वयं ही खानेवाले को खाने लगता है। दूसरा लाभ यह होता है कि प्रायः पैर और हाथ कुछ गन्दे तो अवश्य ही रहते हैं। साधारणतया पैरों में इधर-उधर घूमने से कुछ-न-कुछ गन्दा पदार्थ तो अवश्य ही लग जाता है।

साथ-ही-साथ भोजन के समय वस्त्र उतारने की प्रथा भी बहुत ही महत्वपूर्ण है। वस्त्र उतारकर भोजन करने से चित्त बिलकुल शान्त रहता है और अच्छी तरह भोजन भी हो जाता है। उस समय वस्त्र उतारने का मतलब यह है कि बदन अच्छी तरह खुला रहे, बाहर की हवा लगे और पसीने द्वारा शरीर का विकार निकल जाय। जाड़े के दिनों में ऐसा क्यों नहीं किया जाता ? उन दिनों पसीना नहीं होता। यदि उस समय भी कपड़े उतारकर भोजन करेंगे, तो लेने के देने पड़ जायँगे। प्रायः कुछ धर्म्मप्राण लोग जाड़े के दिनों में भी ऐसा करते हैं। यहाँ तक कि गीला वस्त्र पहनकर ही भोजन करते हैं। संयोगवश कड़ाके की सर्दी यदि कुछ अपना प्रभाव दिखा गई, तो बस कुछ दिनों के लिए वैद्य-डाक्टरों की सेवा करने का मौका मिल जाता है। फिर भी वे अपनी हठधर्मी नहीं छोड़ते। भोजन करने के समय तो दुनियाँ भर का टण्ट-घण्ट जोड़ेंगे; परन्तु भोजनालय ऐसे स्थान पर रखेंगे, जो घर में सबसे अधिक गन्दी जगह होगी। केवल इसी एक बात से उनकी महान बुद्धिमत्ता का परिचय मिल जाता है। अस्तु, गरमी के दिनों में कपड़े उतारकर और जाड़े के दिनों में सरदी सहन करने योग्य कपड़े पहनकर भोजन करना चाहिए।

भोजन के पहले स्नान करने की जो प्रथा है, वह भी अत्यन्त सुखद है। भोजन के पहले स्नान इसलिए किया जाता है कि जिसमें चित्त शान्त हो जाय, और जो कुछ गर्द-गुब्बार शरीर पर जम गया है वह साफ हो जाय। जिसमें रोम कूपों के मुँह अच्छी तरह खुले रहें और शरीर का विकार निकल जाय। स्नान करते समय शरीर को इसलिए खूब मलकर स्नान किया जाता है, जिसमें शरीर साफ रहे। शरीर साफ रहने से किसी प्रकार के फोड़े अथवा फुन्सियाँ नहीं होतीं। पसीने द्वारा भीतर से कफ का दूषित पदार्थ स्वेद-रूप में होकर निकलता है। उसके निकलने से सब विकार शान्त हो जाते एवं उन्हीं छिद्रों द्वारा बाहर से प्राण-प्रद वायु भीतर प्रवेश करता है। सबसे पहले मुख में जल भरकर सिर धोना उसके बाद स्नान करना चाहिए। मुख में जल रहने के कारण दाँत खराब नहीं होते। अन्यथा सिर की गर्मी दाँतों पर आ जाती है और वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। आजकल साबुन लगाकर स्नान करने की जो विधि है, वह अत्यन्त दूषित है। स्नान करते समय केवल खद्दर के अँगौछे से बदन को भली-भाँति मल देना चाहिए। साबुन लगाने से एक प्रकार का रूखापन आ जाता है, जिससे त्वचा-सम्बन्धी रोग हो सकते हैं। अतएव साबुन लगाकर स्नान करने के बाद तेल अवश्य लगाना चाहिए।

स्नान करके भोजन करने का अर्थ यह होता है कि चित्त शान्त रहे, किसी प्रकार की उद्विग्नता न रहे, जिसमें भोजन अच्छी

तरह हो। प्रायः देखा जाता है कि जो नित्य स्नान के अभ्यस्त हैं, वे सदैव नीरोग रहते हैं। स्नान करने से एक लाभ और होता है—रक्त का सञ्चार। रक्त के सञ्चार से ही शरीर दृढ़, सुन्दर गठन, रूप, तेज, शुद्धता एवं दीर्घायु प्राप्त होती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से स्नान बहुत ही उपयोगी है। खेद है, आजकल प्रायः नवयुवक समुदाय इसको भी कोरा ढोंग समझकर उपेक्षा कर रहा है; किन्तु इसकी उपेक्षा अत्यन्त हानिकारक है। जिस तरह आजकल साहब लोगों का अनुकरण हर एक बात में किया जाता है; यदि उसी प्रकार इस बात में भी उनका अनुकरण किया जाय, तो क्या हानि है? जितने भी यूरोपियन आप देखेंगे सभी अपनी दिन-चर्या के पक्के अनुयायी मिलेंगे। वे स्नान को धर्म न मानकर स्वास्थ्य की दृष्टि से करते हैं। उनके इस नियम में कभी भी बाधा नहीं पड़ती।

प्रायः लोग कहते हैं कि बाहर से आकर हाथ-पैरों को धो लेना चाहिए। ऐसा न करने से धर्म नष्ट हो जायगा। आजकल धार्मिक झगड़े को लोग कोरा ढोंग समझते हैं। कहते हैं—"हाथ-पैर धोने से क्या होता है?" नहीं, इससे बड़ा लाभ होता है। बाहर से जिस समय मनुष्य घूमकर आता है, उस समय उसके पैरों पर न मालूम कहाँ-कहाँ की अच्छी और बुरी धूलि पड़ी रहती है और चलने से शरीर श्रमित हो जाता है। धूलि में रोग के उत्पन्न करने वाले कीटाणु भी होते हैं। अतएव बाहर से आकर उसी समय पैरों को धो डालना चाहिए।

इसी तरह रात में सोते समय भी पैरों को धोकर सोने की प्रथा है। इसे भी कुछ लोगों ने धार्मिक डिग्री दे डाली है; किंतु वह सबसे अधिक स्वास्थ्य के लिए हितकर है। रात के समय पैरों को धोकर सोने से चित्त शान्त रहता, आँखों में तरावट पहुँचती, किसी तरह का बुरा स्वप्न नहीं दिखाई पड़ता, प्रगाढ़ निद्रा आती एवं अधिक समय तक दृष्टि तीव्र रहती है। दिन में कई बार पैरों को धोना चाहिए; क्योंकि पैरों के तलवों से आँखों का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जो दिन में कई बार पैर धोवेंगे, उनकी दृष्टि तीव्र होगी, अधिक समय तक स्थिर रहेगी। अन्यथा असमय में ही दृष्टि नष्ट हो जायगी।

तुलनात्मक विचार करने से प्रायः सभी धार्मिक बातें स्वास्थ्य के लिए अनुपयोगी हैं। सम्भवतः प्राचीन समय में ये बातें स्वास्थ्य की ही दृष्टि से बनाई गई हों। युग के परिवर्तन के साथ-ही-साथ इनका भी परिवर्तन हो गया है और वे अब धार्मिक रूप में परिणत हो गई हैं।

ब्रह्मचर्य

अपनी स्वास्थ्य-रक्षा और भावी सन्तान की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये ब्रह्मचर्य का विषय बहुत ही विचारणीय है; किन्तु खेद है कि इतने महत्वपूर्ण विषयपर लोग अधिक ध्यान नहीं दे रहे हैं। जो लोग जानकार हैं, वे भी इसपर ध्यान नहीं देते। बिना ब्रह्मचर्य के, मनुष्य शक्तिहीन, निस्तेज, पराक्रम-विहीन और म्लान-मुख हो जाता है। आजतक जितने भी पराक्रमी, साहसी और धुरन्धर विद्वान्‌ हुए हैं, अथवा हैं वे सभी सच्चे ब्रह्मचारी थे और हैं।

ब्रह्मचर्य को खोकर मनुष्य स्वयं तो नष्ट हो ही जाता है, साथ-ही अपनी भावी सन्तान को भी नष्ट कर देता है। यह विषय स्त्री और पुरुष दोनों ही के लिए विचारणीय है। आधुनिक समय में ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का एकमात्र कारण बाल-विवाह ही है। कुछ शिक्षा का भी बुरा प्रभाव पड़ता है। वह यह कि थोड़ी शिक्षा प्राप्त नवयुवक अधिकतर प्रेमवार्ताओं से पूर्ण कथाओं का अध्ययन करते हैं। फल-स्वरूप वे उसी का अनुकरण करने और अन्त में नष्ट होकर अपना जीवन निस्सार बना देते हैं।

ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हुए शिवजी कहते हैं—

"न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्द्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः॥"

विद्वजन 'तप' को तप नहीं कहते; बल्कि ब्रह्मचर्य को तप

कहते हैं। जो ऊर्द्धरेता (अखण्ड ब्रह्मचारी) है वह मनुष्य नहीं देवता है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ब्रह्मचर्य कितना महत्व-पूर्ण विषय है।

खेद है कि आज भारतवर्ष उसके महत्व को भूलकर अपने को मिट्टी में मिला रहा है। भारतवासी अपने सर्वनाश को आँखों देखते हुए भी इस ओर तनिक ध्यान नहीं देते।

आयुर्वेद भी सनातनियों के लिए एक बड़ा ही महत्वपूर्ण शास्त्र है; किन्तु वे उसे बिलकुल भूल गये हैं और मनमाना कार्य करने के लिए जनता को वाध्य कर रहे हैं। महर्षि "सुश्रुताचार्य" कहते हैं—पचीस वर्ष में पुरुष का और सोलह वर्ष में स्त्री का वीर्य परिपुष्ट होता है। अतएव यह सिद्ध हो गया कि जबतक वीर्य की परिपुष्टि न हो जाय तब तक सहवास न करना चाहिए। यदि उसकी पुष्टि के बिना ही सहवास होगा, तो निश्चय ही दुर्बल एवं अल्पायु सन्तान उत्पन्न होगी। फलस्वरूप वह अकाल में ही काल-कवलित हो जायगी।

कहाँ वह भीमकार्य एवं पराक्रमी पूर्वज और कहाँ यह वर्त-मान समय की अति कृष एवं दुर्बल सन्तान! इसका क्या कारण है? एकमात्र ब्रह्मचर्य का ह्रास।

पहले मनुष्य जवानी की उमङ्गों में कुछ भी ध्यान नहीं देता, परन्तु जब सर्वस्व खो चुकता है, तब पश्चात्ताप करता है; किंतु यह कोई ऐसा पाप नहीं है जो पश्चात्ताप मात्र से ही मिट जाय। हाँ,

होता यह है कि पश्चात्ताप करने से मानसिक चिन्ताएँ बढ़ जाती हैं और वह शीघ्र ही यमलोक सिधार जाता है।

ब्रह्मचर्य-विहीन मनुष्य का मस्तिष्क विकृत हो जाता है। वह स्वयं अपने आपको भूल जाता है और उसके उन्नति के दिन उसी के साथ नष्ट हो जाते हैं और अवनति के दिन आ जाते हैं। आदर्शवादिता विलुप्त हो कर जीवन निस्सार बन जाता है।

आयुर्वेद कहता है कि मनुष्य की आयु एक सौ बीस वर्ष की होनी चाहिए। इतिहास तीव्र स्वर से उसका समर्थन करता है। तब फिर ऐसा होता क्यों नहीं? पचास-साठ वर्ष में ही लोग क्यों मर जाते हैं? ब्रह्मचर्य-विहीन हैं, इसलिए!

संसार अनुकरणशील है; किन्तु इस विषय का अनुकरण कोई भी करने को तैयार नहीं है। जगह-जगह पाश्चात्य प्रणाली का अनुकरण हो रहा है। यदि उसके साथ-ही-साथ वहाँ के विज्ञान-वेत्ताओं की वाणी भी मान ली जाय, तो क्या हानि है? एक पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता का कथन है—"एक ड्राम शुक्र-क्षय, ढाई छटाँक रक्त-क्षय के बराबर है।" आप स्वयं इससे विचार कर सकते हैं कि जो व्यक्ति प्रतिदिन विषय-वासनाओं में लिप्त है, वह किस प्रकार दीर्घजीवी और पराक्रमी तथा भीमकाय हो सकता है; बल्कि इसके विपरीत वह शीघ्र ही संसार से कूच कर जाता है।

ब्रह्मचर्यनाश का एक कारण और है। प्रायः बालक को अबोध समझकर माता-पिता उसके समक्ष ही कुचेष्टाएँ करने लगते

हैं। फलस्वरूप कुछ बड़ा होने पर वह बालक भी उसी क्रिया को करने लगता है। बालकों में अनुकरण की विशेष शक्ति होती है। वे जिस काम को देखेंगे, उसे शीघ्र ही कर दिखाएँगे। थोड़े ही समय में उसे विशेष इन्द्रिय-सुख का अनुभव होने लगता है और धीरे-धीरे वह उसी में लिप्त हो जाता है।

आधुनिक समय में ब्रह्मचर्य असम्भव नहीं; परन्तु कठिन तो अवश्य ही है। यहाँ ब्रह्मचर्य से मेरा मतलब यह नहीं है कि मनुष्य आजीवन रमणी मुखावलोकन ही न करे। करे और अवश्य करे; किन्तु शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन कदापि न करे। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब स्वार्थी लोग स्वार्थ-त्याग कर सत्यावलम्बन करें और शुद्धात्मा से आदेश देकर समाज की आँखें खोल कर अन्धकार को सदैव के लिए लुप्त कर दें।

आजकल के कुछ इन्द्रिय-लोलुपों ने पवित्र वैवाहिक जीवन के आदर्श को नष्ट कर दिया है और उसे रसातल पहुँचाने की कोशिश कर रहे हैं! विवाह क्यों किया जाता है? पुत्रोत्पत्ति एवं धर्म के लिए। एक उद्देश्य तो स्पष्ट ही है। दूसरा धर्म के लिए, अर्थात् कुछ धार्मिक कार्यों में भार्या की आवश्यकता पड़ती है। अग्नि-होत्रादिक कार्य पत्नी-विहीन पुरुष नहीं कर सकता।

जो मनुष्य जितना ही संयमी होगा, वह उतना ही अधिक पराक्रमी, साहसी और अद्भुत शक्तिसम्पन्न होगा। उसके हाथों में बल, चेहरे पर कांति और नेत्रों में अद्भुत ज्योति होगी और जो

असंयमी होगा, उसकी आँखों के नीचे कालापन, आँखें नीचे धँसी हुई और मुखाकृति विकृत होगी। जो मनुष्य सदैव बिना काम-काज के पड़ा-पड़ा इधर-उधर की प्रेम-कथापूर्ण उपन्यास आदि का अध्ययन करेगा, उसकी इच्छा ब्रह्मचर्य की ओर कभी भी न जायगी और अनेक प्रकार के उत्पात सोच-सोचकर वह नष्ट हो जायगा। अतएव मनुष्य को अवकाश के समय किसी अच्छे स्वास्थ्यकर एवं मनोरंजक विषय का अध्ययन करना चाहिए। यदि आप यह कहें कि मनुष्य हर समय किसी एक गूढ़ विषय का अध्ययन नहीं कर सकता, तो जिस समय उसकी तबीयत ऊब जाय, उस समय उसे अपनी मित्रमण्डली में बैठकर तरह-तरह की बातें करना और खूब हँसना चाहिए। हँसना भी स्वास्थ्य के लिए अतीव लाभप्रद है।

आधुनिक समय में चाय, काफी, सिगरेट एवं अन्य मादक पदार्थों ने भी ब्रह्मचर्य के नाश में पूर्णतया सहयोग किया है। इसके साथ-ही-साथ मद्य का खुल्लमखुल्ला विक्रय भी है। जितने भी संसार में कामोत्तेजक पदार्थ हैं, वे सभी इसके नाश के सहयोगी हैं।

यदि किसी कारण वश सामाजिक दुरावस्था में पड़कर मनुष्य ब्रह्मचर्य को नष्ट कर चुका हो, तो उसे चाहिए कि किसी योग्य चिकित्सक-द्वारा चिकित्सा कराकर पुनः ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करे। इससे सम्पूर्ण विकार नष्ट हो कर आत्मा शुद्ध हो जाती है। अब ब्रह्मचारी को किस प्रकार रहना चाहिए, इसका भी थोड़ा विचार करना अत्यावश्यक है—

(१) प्रति दिन प्रातः काल सूर्योदय से कम-से-कम एक घंटा पूर्व शय्या का परित्याग कर देना चाहिए। शय्या से उठकर कुछ देर तक अपने कल्याण के लिए ईश्वर का स्मरण करना चाहिए। इस समय को ब्राह्ममुहूर्त कहते हैं। इस समय उठने से शारीरिक और मानसिक शक्ति बढ़ती एवं मनुष्य दीर्घजीवन लाभ करता है।

(२) सोकर उठने से आध घंटा बाद ही मल-मूत्र का त्याग भी अवश्य करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य सदैव स्वस्थ रहता है। मल-मूत्र-त्याग के बाद गुह्येन्द्रिय को अच्छी तरह खूब साफ करके धो डालना चाहिए; अन्यथा अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं।

(३) उसके बाद नीम, बबूल, चिचिरा, मौलसरी, करंज और बड़ वगैरह की पतली दातुन अथवा मंजन से दाँतों को खूब साफ करना चाहिए। दातुन को फाड़कर अथवा जीभी से जीभ को खूब साफ कर कुल्ले कर डालना चाहिए। इससे मुख तथा दन्त-रोग आदि नहीं होने पाते।

(४) दातुन करने के बाद स्नान करना चाहिए। गरमी के दिनों में ठंढे जल से और जाड़े के दिनों में गरम जल से। खद्दर के अंगौछे से शरीर को खूब मल-मलकर स्नान करना चाहिए। त्वचा साफ रहने से किसी प्रकार के चर्म-रोग की सम्भावना नहीं रहती और पसीने द्वारा शारीरिक विकार निकल जाता है।

(५) इसके बाद अपने धर्म के अनुसार देवार्चन करना चाहिए। उसके बाद प्राणायाम और व्यायाम भी करना चाहिए।

इससे प्रमेह आदि रोगों की सम्भावना नहीं रहती और पाचनशक्ति भी वढ़ती है। इसके वाद थोड़ा-सा दुग्धपान अथवा जल-पान करना चाहिए।

(६) दस वजे के वाद और वारह वजे के भीतर अपनी स्थिति के अनुसार निरामिप भोजन करना चाहिए। भोजन सदैव सादा, ताजा, स्वादयुक्त, स्वास्थ्यकर और लाभ-प्रद होना चाहिये। चाय और काफी आदि मादक तथा उत्तेजक पदार्थों का सेवन हानिकारक है। इससे उत्तेजना होकर वीर्य नष्ट हो जाता है। भोजन के दो घंटे वाद थोड़ा फल भी अवश्य खाना चाहिए।

(७) भोजन के वाद थोड़ी देर तक विश्राम कर पुनः अपने कार्य में लग जाना उचित है। सूर्यास्त हो जाने पर थोड़ी देर के लिए काम-काज वन्द करके मील-दो-मील अथवा किसी वगीचे में जाकर टहलना चाहिए।

(८) रात्रि में लगभग नौ या दस वजे भोजन करके सो जाना चाहिए। अपने आराम के लिए, जिसमें सुखपूर्वक प्रगाढ़ निद्रा आवे, शय्या निर्मित कर लेनी चाहिए।

उपर्युक्त नियम स्त्री और पुरुष दोनों ही के लिए हैं। बिना ब्रह्मचर्य के जीवन 'मृतक' के सामान है।

हवा

संसार में ईश्वर ने प्राणी-मात्र के लाभ के लिए सम्पूर्ण वस्तुएँ बनाई हैं; किन्तु उनमें से हर समय 'हवा' का ही उपभोग सब लोग करते हैं, और सचमुच 'हवा' एक अमूल्य वस्तु है भी। उसका कोई रूप नहीं है। वह निराकार है। वह सभी जगह मौजूद है, और कहीं भी नहीं है! ईश्वर की बनाई हुई ऐसी बहुत-सी चीजें हैं, जिनसे सभी को लाभ होता है; परन्तु वे दिखाई नहीं पड़तीं। उन्हीं में से एक 'हवा' भी है।

अगर कभी किसी को दो-चार दिन तक अन्न न मिले, तो वह जी सकता है। संयोग-वश एक-दो दिन तक जल बिना भी जी सकता है; परन्तु हवा के बिना वह एक क्षण भी नहीं जी सकता। गंदी हवा में कुछ देर मनुष्य रह सकता है; किन्तु वह भी क्षणिक होता है।

जहाँ पर हवा न आती हो, वहाँ पर जाकर देखिए, तुरन्त ही दम घुटने लगेगा और झट भागने की कोशिश करेंगे। जिस जगह गंदी हवा होगी, उस जगह मनुष्य थोड़ी देर तक टिक सकता है। पर जहाँ हवा न होगी, वहाँ साँस लेना भी दूभर हो जायगा। यदि अधिक साहस करके मनुष्य थोड़ी देर तक खड़ा रहे, तो उसे साँस लेने में भी कष्ट होगा, और फिर यदि वह अधिक देर तक वहाँ रह गया, तो बस, बेहोश होकर गिर पड़ेगा।

कहीं मेले-तमाशे में जब अधिक आदमी इकट्ठा हो जाते हैं,

तो साँस लेने में भी तकलीफ मालूम होती है; और जो भीड़ के बीच में रहते हैं, उनके तो प्राणों पर आ बनती है। जब कहीं कोई सभा-सोसाइटी गरमी के दिनों में होती है, तो अधिक संख्या में उपस्थित जनता को बड़ी तकलीफ होने लगती है; क्योंकि लोगों को, भीड़ के कारण वहाँ पर काफी हवा नहीं पहुँचती।

जिस समय दोपहर हो, उस समय किवाड़ के दराज से देखने पर पता चलता है कि कितना बारीक धूल का कण भीतर आता है। वह या तो धूल होती है या वनस्पतियों का चूर्ण। अगर बाहर कहीं बगीचे आदि में ऐसा दिखाई पड़े, तो उसे वनस्पति का कण ही समझना चाहिए। वह केवल हवा के साथ मिलकर आता है। यदि हवा न रहेगी, तो वह कभी दिखाई न पड़ेगा।

वे कण यदि वनस्पति के होंगे, तो दिमाग में जाकर उसे पुष्ट करेंगे एवं स्मरण-शक्ति को भी बढ़ाएँगे। स्मरण-शक्ति के बढ़ने से मनुष्य अनेकानेक उपयोगी काम कर सकता है। अगर गन्दी जगह में रहेंगे, तो दिमाग को गन्दी हवा की खुराक मिलने से स्मरण-शक्ति मलिन हो जायगी। किसी बगीचे अथवा खुले स्थान में रहें और वहीं थोड़ी देर तक खुली हवा में घूम लिया करें। अगर ऐसा स्थान न हो, तो किसी पास के साफ बगीचे में जाकर टहलना चाहिए। सुबह-शाम दोनों समय, खुली जगह में टहलने से शरीर में शुद्ध वायु प्रवेश करता है। भूख खूब खुलकर लगती है। खाद्यपदार्थ झट हजम हो जायगा; दिमाग हमेशा ताजा बना रहेगा।

ध्यान रहे, वायु सेवन के लिए भी नियम बने हुए हैं। सुबह अथवा शाम को हवा खाने निकलने के बदले अगर दोपहर को या रात में निकला जायगा, तो लाभ की जगह हानि ही अधिक होगी। पार्क, बगीचे, मैदान, नदी-तट या जंगल के बदले अगर गाँव या शहर की तंग गलियों में हवा खाने या टहलने निकला जायगा, तो भी हानि ही अधिक होगी। सभी कामों के लिए नियम हुआ करते हैं। बिना नियम के सभी कामों में हानि हुआ करती है। अतएव वायु-सेवन के विषय में निम्नलिखित नियमों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१—जिस कमरे में रात को सोया जाय, उसकी एक खिड़की अवश्य खुली रहे। खुली खिड़की से साफ हवा आएगी और रात में साँस के साथ का विषैला पदार्थ बराबर बाहर निकलता रहेगा। बन्द रखने से बराबर वही पदार्थ भीतर-बाहर होता रहेगा, जिससे बहुत तरह के रोगों का भय रहता है।

२—जब शरीर में पसीना आता रहे, तब देह में ठंढी हवा न लगने पाए। पसीने की हालत में ठंढी हवा लगने से शरीर जकड़ जाता है और कभी-कभी ज्वर भी आ जाता है।

३—अगर शहर के भीतर रहना हो, तो गमलों में तुलसी, गेंदा, गुलाब, पुदीना आदि लगाया जाय, जिससे गंदी हवा का असर न पड़े।

४—गरमी के दिनों में सुबह-शाम, दोनों समय, किसी बाग

में चक्कर लगाना चाहिए; परन्तु जाड़े के दिनों में अगर तड़के उठकर खुले मैदान में न टहल सकें, तो शाम के समय कुछ हल्का जल-पान करके अवश्य ही बाहर घूम आया करें; पर अधिक सर्द हवा में बहुत घूमना भी न चाहिए।

५—बाग या मैदान में घूमते समय किसी अच्छे स्थान पर बैठकर पाँच-सात बार जोर-जोर से हवा खींचना और बाद में छोड़ देना चाहिए। इससे फेफड़ा और दिमाग बलवान् होते हैं।

६—तुलसी, नीम, गुलाब, चम्पा, चमेली, जुही और पारिजात आदि के पेड़ों के पास जाकर खड़े होकर मुँह से हवा खींचना और नाक से निकाल देना चाहिए। इससे खाँसी-जुकाम आदि के होने का भय नहीं रहता।

दीर्घ-जीवन

जगत में प्राणीमात्र यह इच्छा करता है कि हम दीर्घ-जीवी बनें, किन्तु दीर्घ-जीवी बनने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उनकी ओर किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं होता। दीर्घ-जीवी होने के लिए सबसे पहले नीरोगिता की बड़ी आवश्यकता है। लेकिन आजकल इन्द्रिय-लोलुप इन्द्रियों की विषय-वासना-तृप्ति के लिए किसी बात का भी ध्यान नहीं रखते। अन्त में नष्ट होकर डाक्टर, वैद्य और हकीमों के यहाँ की खाक छाना करते हैं।

अब रोगी और नीरोग दोनों ही यह प्रश्न करेंगे कि हम किस प्रकार जीवन व्यतीत करें, जिससे दीर्घजीवी होने के साथ-ही-साथ वृद्धावस्था में हमारी सब इन्द्रियाँ भी साधारणतया कार्य करती रहें। उनमें से रोगी के लिए चिकित्सक समुदाय यही बतलाएगा कि तुम किसी ऐसे पदार्थ का सेवन करो जिससे तुम्हारी व्याधि नष्ट हो जाय, और नीरोग के लिए भी बतलाएगा कि तुम किसी पौष्टिक पदार्थ का सेवन करो। परन्तु ये सभी बातें रोग की शान्ति के लिए हो सकती हैं। दीर्घजीवी बनने के लिए नहीं। बच्चों को दीर्घ-जीवी बनाने के लिए चरक आदि में जो वस्तुएँ बतायी गयी हैं उनका यथेष्ट उपयोग करना रोगी और वैद्य—दोनों की शक्ति से बाहर है। आधुनिक समय में बहुत-सी चीजें अप्राप्य हो गयी हैं और कुछ मनुष्यों में आधुनिक सभ्यता की मात्रा अधिक आ गई है; इसलिए वे उतना पथ्य भी नहीं कर सकते, जितना प्राचीन लोग करते थे। ऐसी दशा में जब तक प्राकृतिक उपायों से काम न लिया जायगा, तब तक दीर्घजीवी होना कठिन ही नहीं दुःसाध्य है।

प्राकृतिक उपायों से काम लेते हुए मानव-जीवन के लिए शुद्ध वायु अत्यन्त आवश्यक है। जल के बिना थोड़ी देर जीना सम्भव है। परन्तु स्वच्छ वायु के बिना पलमात्र भी जीना असम्भव है। जिस तरह स्वच्छ वायु मनुष्य को दीर्घजीवी बनाता है, उसी तरह अशुद्धवायु प्राणीमात्र को रोगी बना देता है। क्योंकि शहर के रहनेवालों की अपेक्षा देहात के रहने वाले अधिक हृष्ट-पुष्ट होते हैं।

अब वायु के बाद दूसरी आवश्यक वस्तु जल है। जल के ऊपर भी मनुष्य का जीवन निर्भर है। शुद्ध और स्वच्छ जल भी प्राकृतिक उपाय करनेवालों के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। प्रत्येक स्थान के जल में भेद होता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य की स्वस्थता के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि उसके माता-पिता किस-किस प्रान्त के रहनेवाले हैं। इतना सब होते हुए भी ईश्वर ने सब कुञ्जी मनुष्य के हाथ में दे दी है। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र, इन्हीं सब पदार्थों से शरीर-रचना हुई है। इन सप्त पदार्थों में शुक्र ही शरीर-रक्षक है। जिसने शुक्र की रक्षा नहीं की; उसने अपने जीवन में स्वास्थ्य-रक्षा के लिए कोई भी उपाय नहीं किया। वीर वही है, जिसने ब्रह्मचर्य की रक्षा की है। अन्यथा बलिष्ट होते हुए भी वह वीर कहलाने योग्य नहीं है। वीर्य-जैसे अमूल्य पदार्थ को नष्ट करके आरोग्यता की रक्षा करना विष खाकर जीने की अभिलाषा के समान है। मनुष्य की आयु इस बात पर निर्भर करती है कि उसने कितने दिनों तक ब्रह्मचर्य-पालन किया है। जितने दिनों तक मनुष्य ब्रह्मचर्य-पालन करता है, उससे निश्चय उनकी चौगुनी आयु होती है।

यदि पचीस वर्ष तक उसने ब्रह्मचर्य-पालन किया है तो निश्चय उसकी आयु आयुर्वेद के अनुसार एक सौ वर्ष की होगी। इसके माने यह नहीं है कि कोई मनुष्य एक सौ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन करे तो वह चार सौ वर्ष तक जीता रहे। जिसने पचीस वर्ष के

पहले ब्रह्मचर्य नष्ट कर दिया है, वह चाहे जिस समय मर जाय उसकी अकाल-मृत्यु नहीं कही जा सकती। आजकल जो लोग पचास-साठ वर्ष की अवस्था में मर जाते हैं, उनके सम्बन्ध में लोग कहते हैं कि असमय में ही उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिसने पचीस वर्ष के पहले वीर्य नष्ट कर दिया है अथवा जो पचीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन करने के बाद अनाचारी हो गया है, वह अवश्य पचास-साठ वर्ष की अवस्था में मर जायगा। दूसरी ओर यह कि यदि किसी कारणवश सामाजिक दुरवस्था में पड़कर कोई पचीस वर्ष के पहले ही वीर्य नष्ट कर चुका हैं; किन्तु आगे चलकर नियम-पूर्वक रहने लग गया है, तो वह अवश्य पूर्णायु प्राप्त कर सकता है, और वृद्धावस्था में भी बलिष्ट एवं शक्तिमान बना रह सकता है। इसके अतिरिक्त महर्षि सुश्रुताचार्य कहते हैं—

पञ्चविंशे ततोवर्षे पुमान्नारी तु षोड़शे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जनीयात् कुशलोभिषक्॥

अर्थ—पचीस वर्ष के बाद पुरुष और सोलह वर्ष के बाद स्त्री का वीर्य परिपुष्ट हुआ वैद्य को जानना चाहिए।

इस श्लोक से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पचीस वर्ष के बाद पुरुष और सोलह वर्ष के बाद स्त्री का सहवास-सम्बन्ध होना चाहिए। खेद है कि आजकल लोग इन बातों पर तनिक भी ध्यान नहीं देते। और छोटे-छोटे बालकों का गुड़ियों की तरह ब्याह कर देते हैं।

पच्चीस वर्ष के पुरुष और सोलह वर्ष की स्त्री को दो-दो तीन-तीन बच्चे हो जाते हैं। यदि मनुष्य इतना अन्याय करके चालीस-पचास वर्ष में ही इस संसार से कूच कर जाता है तो क्या आश्चर्य!

खान-पान का विचार भी दीर्घजीवी होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि खान-पान में गड़बड़ी रहेगी, तो वह अवश्य हानि पहुँचाएगी। ठण्ढे देशवाले गरम देशवालों की अपेक्षा अधिक अन्न पचा सकते हैं। प्राणीमात्र को अपनी क्षुधा के अनुसार भोजन करना चाहिए। भोजन ताजा, स्वादिष्ट, सादा और बल-कारक होना चाहिए। अधिक, सड़ा, खट्टा, तीता और गुरुपाकी न करना चाहिए। भोजन के साथ-ही-साथ थोड़ा-थोड़ा जल भी पीना चाहिए। भोजन के बाद अधिक जल पीने से जठराग्नि नष्ट हो जाती है।

मांसाहारी लोग कहेंगे कि स्वास्थ्य के लिए मांस बहुत उपयोगी है। परन्तु उनका यह ख्याल बहुत ही गलत है। अनेक विद्वानों का मत है कि मांसभक्षण स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त अहितकारी है। सब मद्य-सेवी भी मद्य को स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकारी बतलाएँगे; परन्तु उनका भी यह ख्याल बहुत ही गलत है। संसार में जितनी भी नशे की चीजें हैं—जैसे तम्बाकू, मद्य, चाय और गाँजा आदि सभी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। नशे की चीजों का सेवन करने से मनुष्य शीघ्र ही काल का ग्रास बन जाता है। अनेक विज्ञानवेत्ताओं का मत है कि नशे की चीजों में विष होता है। इसलिए इसका सेवन भूलकर भी न करना चाहिए।

अब व्यायाम का विषय भी बहुत ही विचारणीय है। जो मनुष्य जीवन-धारण करके हाथ-पैर नहीं चलाता, घर में बैठे-बैठे कायरों की तरह भोजन किया करता है, उसका जीवन भी नष्ट हो जाता है। इसलिए मनुष्यमात्र के लिए आवश्यक है कि वह थोड़ा-थोड़ा व्यायाम अवश्य किया करे। व्यायाम के माने यह नहीं है कि अखाड़े में ही जाकर लड़े और कसरत करे। घर पर ही थोड़ा दंड, कसरत और मुग्दर आदि का उपयोग पर्याप्त है। जिनको किसी अन्य कारण-वश अधिक अवकाश न मिलता हो, उनको सुबह या शाम को दो-तीन मील का चक्कर लगा लेना चाहिए। इससे उनका शरीर बलवान, सुन्दर और कान्तिवान बना रहेगा। जो लोग एक आसन से बैठकर चार-छः घण्टे काम किया करते हैं, उनका शरीर शिथिल, मोटा और हतकान्ति हो जाता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि एक मजदूर और एक जगह बैठकर काम करनेवाले बाबू से मुकाबला कर देख लीजिए।

तात्पर्य यह है कि दीर्घजीवी होने के लिए जल, वायु, वीर्य-रक्षा, खान-पान और व्यायाम ही मुख्य कारण है। परन्तु कुछ भाग्य पर निर्भर करनेवाले नीति-शास्त्रज्ञ कहेंगे—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैवदेहिनः॥

अर्थ—आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु यह पाँच बातें मनुष्य को, गर्भ में ही उत्पन्न हो जाती हैं। यदि इन बातों को भी मान लिया

जाय, तो भी उपर्युक्त नियमों का पालन किये बिना दीर्घजीवी होना असम्भव है। इन बातों पर विश्वास करते हुए भी यदि दीर्घजीवी बनना हो तो जल, वायु, वीर्य-रक्षा, खान-पान और व्यायाम का यथार्थ उपयोग करना चाहिए। अन्यथा अकाल-मृत्यु निश्चित है।

शान्ति और स्वास्थ्य

मनुष्य की शान्तिप्रियता दैविक, भौतिक और दैहिक चिन्ताओं से ही भङ्ग होती है। यहाँ दैहिक कारणों पर ही विचार किया जाता है। स्वास्थ्य और शान्ति का अन्योन्य सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा नहीं मिल सकता। शान्ति एक प्रकार की भावना अथवा विचार मात्र है। इसके विषय में कहा है—

याद्दशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति ताद्दशी।

जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसा ही फल मिलता है। अतएव जो मनुष्य अपने मस्तिष्क में शान्ति का विचार रख-कर स्वास्थ्य का ध्यान करेगा, वह निश्चय ही स्वस्थ रहेगा।

वासना-रूपी संसार में फँसकर मनुष्य जिस प्रकार अपने स्वास्थ्य का ह्रास कर रहा है; वह किसी से छिपा नहीं है। ऐसे लोग समझते हैं कि इसके अतिरिक्त संसार में और कोई शान्ति का स्थान अथवा मार्ग नहीं है; किन्तु उनकी यह धारणा नितान्त भ्रमा-त्मक है। इस संसार में पहले मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी सभी बाल-

चिता चिन्ता समानास्ति विन्दुमात्रविशेषतः ।
सजीवं दह्यते चिन्ता निर्जीवं दह्यते चिता ॥

चिता और चिंता समान हैं। केवल विन्दुमात्र ही चिंता में विशेष है। सजीव को चिंता जलाती है और निर्जीव को चिता।

चिंता से, वड़ा शक्तिशाली मनुष्य भी अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर शीघ्र ही काल-कवलित हो जाता है। जिस मनुष्य को कुछ दिनों तक चिंता विशेष रही हो, उसके वाद यदि किसी प्रकार वह उस-से मुक्त हो जाय, तो भी उसका पिछला स्वास्थ्य नहीं लौट सकता।

स्वास्थ्याभिलाषी मनुष्य के लिये शान्ति की वड़ी आवश्यकता है। शान्ति और स्वास्थ्य का परस्पर सम्वन्ध पहले वतलाया जा चुका है। विना शान्ति के उत्तम स्वास्थ्य कहाँ? साथ ही शान्ति का अनुगामी सन्तोष है। जव सन्तोष हो गया, तव चिन्ता कहाँ? सन्तोष के समक्ष संसार की सभी वस्तुएँ तुच्छ हैं। वह किसी की परवाह नहीं करता। कहा है—"संतोषं परमं सुखम्" सन्तोष परम सुख का मार्ग है। सन्तोष से सांसारिक वस्तुओं की तुच्छता का भाव हृदय में उदय होता है। यही शान्ति अथवा वैराग्य का लक्षण है। संसार में जितने मनुष्य सन्तोषी पाए जाते हैं, वे सभी स्वस्थ और नीरोग देखे जाते हैं। सन्तोष की रूखी रोटियाँ भी महान् स्वास्थ्य-प्रद होती हैं और असन्तोष का हलवा भी हानिकारक होता है।

प्रायः जितने त्यागी और महात्मा पाये जाते हैं, वे सभी सन्तोषी होते हैं। इसीलिए जंगल के कन्द, शाक और सूखे चने

खाकर भी वे लम्बी उम्र वाले होते हैं। देखने में पतले-दुबले; किन्तु परम स्वस्थ होते हैं। वास्तव में शान्ति से मनुष्य को बड़े आनन्द का अनुभव होता है। उसका मस्तिष्क हर समय पारलौकिक विचारों में ही निमग्न रहता है। फिर उसे इस बात की परवाह नहीं रहती कि आज हमें भोजन अच्छा नहीं मिला, कल कपड़े बदलने हैं और परसों हजामत बनवानी है। वह सुख और दुख सभी अवस्थाओं में प्रसन्न रहता है। प्रसन्नता स्वास्थ्य की जननी है। शान्ति से ही प्रसन्नता होती है। शान्ति और त्याग का भाव अच्छे साहित्य के अध्ययन से ही उदय होता है। त्यागियों में शान्ति की मात्रा निश्चय ही होती है। किन्तु अच्छे साहित्य के बिना उसका स्थायित्व नहीं होता। वह शान्ति वर्षा-ऋतु की नदियों के बाढ़ के समान है। उसके लिए उस उच्च साहित्य का अध्ययन किया जाय, जिससे सांसारिक वासनाओं की ओर से चित्त एकदम खिंच जाय, मस्तिष्क शान्त रहे और चित्त चलायमान न हो। इन बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

साहित्य से भी मनुष्य का चरित्र बनता-बिगड़ता और उसका उत्थान एवं पतन होता है। गन्दे साहित्य के अध्ययन से चित्त चंचल होता है, और मनुष्य अस्वस्थ हो जाता है। पाश्चात्य सभ्यतानुरागियों ने प्राचीन एवं उत्कृष्ट स्वास्थ्य-साहित्य का तो एकदम परित्याग कर ही दिया है; साथ ही अच्छे उपन्यासों को छोड़कर एकमात्र तबीयत बिगाड़ने वाले ही उपन्यासों का पढ़ना आरम्भ कर दिया है।

भारतीयों ने केवल साहित्य में ही नहीं; वरन् रहन-सहन और खान-पान में भी नकल की है। किन्तु उसमें भी वे अधकचरे ही हैं। हम भारतवासियों के लिए वही रहन-सहन स्वास्थ्यप्रद हो सकती है, जो हमारे यहाँ के जल-वायु के अनुकूल हो।

भारतीयों का फैशन घोर दिमागी अशान्ति का कारण है। भारत गरीब देश है। जहाँ तन ढाँकने के लिए भी एक ओर वस्त्र नहीं मिलता, वहाँ दूसरी ओर फैशन योंही तबाह किए रहता है? ठीक यही हालत खान-पान के विषय में भी है। भारतीय-आय के अनुसार प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है कि यदि उसे साधारणतया अच्छा भोजन पेट भर खाने को मिल जाय; तो उसे ईश्वर की देन समझनी चाहिए। किन्तु ऐसा सिद्धान्त विरले ही का होगा। यहाँ तो भोजन के सम्पूर्ण पदार्थों को अधिक-से-अधिक खराब कर खाने के अभ्यस्त हैं। साथ ही मिर्च-मसाले से उसका प्राकृतिक स्वाद इतना अधिक विकृत कर देते हैं कि वह भोजन हानिकारक हो जाता है, और क्षणिक जिह्वा-स्वाद के कारण जठराग्नि का नाश कर देता है। यह दशा तो भारतीय-पद्धति के भोजन की है। इसके अतिरिक्त जो लोग एकदम पाश्चात्य की नकल करते है, उनकी दशा तो भारतीय-पद्धति से भी अधिक कारुणिक है। वे बेचारे हर समय 'टी' और बिस्कुट के पीछे ही पागल रहते हैं। चाय से कितनी हानि होती है, इसे भारतीय जल्दी स्वीकार नहीं करते; किन्तु अमेरिका के विद्वान् डाक्टरों ने इसके विषय में लिखा

है—'चाय शरीर में प्रत्यक्ष विष का काम करती है।' इससे मस्तिष्क हर समय चंचल रहता है। कफ-क्षय के कारण निद्रा नहीं आती। चाय की गरमी से मस्तिष्क की धमनियाँ तीव्र गति से काम करती हैं। जो अधिक दिनों तक चाय का सेवन करता रहा हो, उससे पूछिये। वह साफ कहेगा—'हमारा स्वास्थ्य इसीसे खराब हुआ है; किन्तु चाय की लत पड़ जाने से मैं उसे छोड़ने में असमर्थ हूँ।'

विस्कुट के विषय में भी इसी प्रकार की कुछ बातें हैं। एक बार आचार्य सर पी० सी० राय ने विज्ञान-द्वारा यह सिद्ध किया था कि विस्कुट से कहीं बलदायक और स्वास्थ्य-प्रद वस्तु चावलों की फरुही (लाई) है। भोजन के विषय में यहीं से अन्त नहीं होता। कुछ लोग एक ओर डाट कर भोजन करते हैं, दूसरी ओर कुछ चूर्ण से उसे पचाने की कोशिश करते हैं। ऐसे लोगों को कुछ ही दिनों में अजीर्ण और कब्जियत की शिकायत हो जाती है। उन्नति के दिन विलुप्त होते एवं अवनति के सिरपर सवार हो जाते हैं। शान्ति के स्थान पर अशान्ति और स्वास्थ्य के स्थान पर रोग का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। अतएव मानसिक एवं शारीरिक शान्ति के लिए खान-पान, रहन-सहन और साहित्य आदि का ध्यान रखना चाहिए। संसार में स्वास्थ्य से बढ़कर मानव-जीवन के लिए अन्य कोई वस्तु नहीं है। इसलिए शान्ति और स्वास्थ्य दोनों की रक्षा यत्न-पूर्वक करनी चाहिए।

ऋतुचर्य्या

यह सौभाग्य हमारे भारतवर्ष को ही प्राप्त है कि यहाँ ठीक समय पर शास्त्र-वर्णित षट् ऋतुओं का अनुभव, समय आते ही होने लगता है। ऐसा पाश्चात्य देशों में नहीं होता। वसन्त-जैसी प्यारी ऋतु का अनुभव तो कदाचित् अन्य देशवासियों को होता ही नहीं। हमारा देश ही इसके लिए भाग्यशाली है।

दो-दो महीने एक ऋतु रहती है। इस प्रकार एक वर्ष में बारह महीने और छः ऋतुएँ होती हैं। महीनों के हिसाब से उनका क्रम इस प्रकार है—

फाल्गुन-चैत्र—वसन्त;
वैशाख-ज्येष्ठ—ग्रीष्म;
आषाढ़-श्रावण—वर्षा;
भाद्र-आश्विन—शरद;
कार्तिक-अगहन—हेमन्त और
पौष-माघ—शिशिर।

वसन्त—फाल्गुन और चैत्र इन दो मासों को वसन्तऋतु कहते हैं। इसमें दिशाएँ निर्मल हो जाती हैं। ढाक, कमल और आक के वृक्षों से वन-उपवनों की शोभा विचित्र हो जाती है। कोकिल की कुहू-कुहू ध्वनि और भौंरों का अत्यन्त मनोहर गुञ्जन सुनाई पड़ने लगता है। दक्षिण की हवा चलती है। वृक्षों में नए-

नए पत्ते पैदा होते और चित्त को प्रसन्न करते हैं। वृक्षों की शोभा बढ़ जाती है। वसन्त स्निग्ध है; अतएव मधुरता करती और कफ को बढ़ाती है; अर्थात्—कफजन्य रोगों को पैदा करती है।

हेमन्त ऋतु में शीत के कारण कफ का संचय होता है, फिर वही संचित कफ वसन्त में सूर्य-ताप से कुपित हो पाचक अग्नि को दूषित कर रोग को उत्पन्न करता है।

इस कारण इस ऋतु में वमन-विरेचन-द्वारा कफ को बाहर निकालना चाहिए। इसमें चरपरे, रूखे, कड़वे, कसैले और हल्के पदार्थों का सेवन ही हितकर है। खट्टी, मीठी, चिकनी और कष्ट से पचनेवाली वस्तुओं का सेवन कदापि न करना चाहिए।

<u>हितकारी आहार-विहार</u>—इस ऋतु में गेहूँ, चावल; मूँग, परवल, बैंगन, शहद, जीरा, अदरख और मूली इत्यादि वस्तुएँ खाना; कुआँ, बावड़ी या पर्वत के झरने का जल पीना; ये सब बातें हितकर हैं। सोंठ, मिर्च, पीपर, पीपरामूल, त्रिफला (हर्र, बहेड़ा, आँवला), असगंध और हल्दी इन वस्तुओं का सेवन भी लाभदायक है। कसरत करना, कुश्ती लड़ना, मार्ग चलना, शरीर में चन्दन-केसर का लेप करना, उबटन लगवाना, अपनी सहधर्मिणी अथवा समान अवस्थावालों के साथ प्यारी-प्यारी बातें करना, पुष्पित-पल्लवित बाग-बगीचों में विहार करना, रेशमी कपड़े पहनना, मुलायम शय्या पर शयन करना, युवती स्त्री के साथ प्रसंग करना, ये सब बातें हमारे ऋषियों ने हितकारिणी बताई हैं।

अपथ्य खान-पान—चिकने, खट्टे, मीठे और गरिष्ट पदार्थ सेवन करना, दही खाना और दिन में सोना, ये सब कार्य त्याग देने चाहिएँ। तोरई, उड़द, सिंघाड़े, होला, भैंस का दूध, खिचड़ी, ये सब अपथ्य हैं। मीठे और शीतल पदार्थों का सेवन भी हानि-कारक है।

ग्रीष्म—वैशाख और ज्येष्ठ इन दो मासों को ग्रीष्म कहते हैं। इस ऋतु में गर्मी बहुत तेज रहती है। जमीन तपती और गर्म हवा चलती है। मनुष्य और पशु आदि प्राणी गर्मी के कारण व्याकुल हो जाते हैं। इसमें शीतल पदार्थों का खाना और शीतल ही स्थान में रहना आनन्द-दायक है। ग्रीष्म-ऋतु रूखी है; अतएव पदार्थों में तीक्ष्णता करती है। कफ नाशक और पित्तवर्द्धक है; अतः पित्त-शमनकारी वस्तुओं का सेवन करना चाहिए।

हितकारी आहार-विहार—सिखरन, नींबू का पत्ता, गाय का औटाया हुआ मिश्री मिला दूध, भात, पुराना—जौ, गेहूँ; खाँड़, सत्तू, खीर, खरबूजे, मक्खन, घी, मिश्री, पका केला, शीतल जल, शर्बत, कूएँ या झरने का जल, पानी में मिलाकर गुलाब का गुलकन्द, सेव का मुरब्बा इत्यादि चीजें हितकर हैं।

पुराना—गेहूँ, जौ, मूँग, मसूर, अरहर, मटर, तरबूज, कच्ची ककड़ी, परवल, करेला, बथुआ, चौलाई, मलाई सहित मीठा दही, मीठा मट्ठा, कसेरू, सिंघाड़ा आदि चीजों का सेवन भी अत्यन्त गुणदायक है। चमेली और बेला इत्यादि सुगन्धित फूलों से सुस-

ञ्जित शय्या पर शयन करना, खस के पर्दे लगवाकर जल छिड़कवाना भी आनन्द-दायक है।

सफेद चन्दन, कपूर, सुगन्धवाली चीजों का शरीर में लेप करना; चमेली, कुमुदिनी इत्यादि सुगन्धित पुष्पों की माला पहनना; गुलाब, केवड़ा, खस आदि के उत्तम-उत्तम इत्र सूँघना; दोपहर के समय सरिता के किनारे, जहाँ पर इत्र आदि पदार्थों से स्थान सुगन्धित हो और पूर्व कथनानुसार ही फूलों की शय्या हो, थोड़ी देर शयन करना; ताड़ या खस के पंखे की हवा लेना; स्त्री या मित्रों के साथ जल-क्रीड़ा करना; मधुर-स्वर में गीत गाना; भौंरे आदि के मनोहर गुञ्जन सुनना; हल्के कपड़े पहनना; ऊँचे मकान की छत पर, जहाँ स्वच्छ वायु आता हो, निर्मल चाँदनी रात हो, मन्द-मन्द शीतल पवन का सेवन करना; पन्द्रह दिन में एक बार स्त्री-प्रसङ्ग करना हितकर है।

<u>अपथ्य खान-पान</u>—ग्रीष्मऋतु में अधिक मेहनत, कसरत, गर्म स्थान में रहना, धूप में घूमना; खट्टे, कड़वे, खारी, चरपरे, सूखे, नमकीन और गर्म वस्तुओं का सेवन त्याग देना चाहिए।

मदिरा का सेवन भूल कर भी न करना चाहिए; इसके सेवन से सूजन, दाह, शिथिलता आदि उपद्रव होते हैं। उर्द, खिचड़ी, लहसुन, राई, काँगनी, सरसों, पक्का तरबूज, बैंगन और खट्टा दही आदि न खाना चाहिए। उपवास करना, राह चलना आदि भी त्याग देना चाहिए।

वर्षा—आषाढ़ तथा श्रावण इन दो मासों को वर्षा कहते हैं। इस ऋतु में ग्रीष्म का संचित वायु कुपित होता है। वात-जन्य रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए इसमें वात-शमनकारी वस्तुओं का ही सेवन लाभदायक है।

हितकारी आहार-विहार—खट्टे, मीठे, नमकीन रसों का सेवन लाभदायक है। गरमाया हुआ दूध, घी, तैल, जौ, पुराना चावल, दही आदि पथ्य हैं।

अपथ्य आहार-विहार—नदी का पानी, वर्षा का जल, गर्म, रूखा, मट्ठा, घाम, मिहनत के कार्य, दिन में सोना, स्त्री-प्रसंग करना, नदी के जल में स्नान करना, ये सब बातें अहितकारी हैं।

शरद—भाद्रपद और आश्विन इन दो मासों को शरदऋतु कहते हैं। यह शीतल है। दाह और अग्निमन्द कर वायु को कुपित करती है। इसमें अग्नि और बल क्षीण हो जाते हैं। त्रिदोष का कोप होता है; अतएव त्रिदोषनाशक वस्तुओं का सेवन करना अत्यन्त आवश्यक है।

इस ऋतु में हल्का भोजन करना चाहिए। कभी-कभी सर्दी-गर्मी आदि का भी अनुभव होने लगता है। इसलिए समयानुसार खाने-पीने का भी परिवर्त्तन करते रहना चाहिए।

हितकारी आहार-विहार—सुख चाहनेवाला मनुष्य को दही, पुराने-चावलों का भात, गेहूँ, उर्द, गरम पदार्थ, कुरथी, सरसों, राई, बथुआ, बैंगन, तरोई, पका तरबूज, खीरा, परवल, घेवर, मालपुआ,

खिचड़ी, खीर, झरने का जल पीना, शरीर में उवटन लगाना, हल्के सुगन्धयुक्त वस्त्र धारण करना आदि लाभदायक हैं।

अपथ्य अहार-विहार—इसमें पूरब की हवा खाना, धूप में घूमना, ओस में सोना, अत्यन्त परिश्रम करना, सरिता के तटपर निवास करना, दिन में सोना, शीतल और सूखे पदार्थ खाना, प्रतिदिन स्त्री-प्रसंग करना, सरिता का जल पीना, अत्यन्त व्यायाम करना; चना, मूँग, पालक, आलू, कसेरु, घीया, तरोई, करेला, कच्चा खीरा, कच्ची ककड़ी, जौ, मटर, मसूर और कुरथी आदि खाना एवं भाग-कर चलना; मल-मूत्र और छींक आदि रोकना, ये सब कर्म त्याज्य हैं।

हेमन्त—कार्तिक और अगहन इन दो मासों को हेमंन्त-ऋतु कहते हैं। यह सभी पदार्थों में स्वाद पैदा करती है। अग्नि और बल की वृद्धि होती है। साथ ही वायु का कोप भी होता है। इस ऋतु के विषय में सुश्रुत उत्तरतन्त्र के ६४ वें अध्याय में लिखा है—

हेमन्तः शीतलोरुक्षो मन्दसूर्योनिलाकुलः।
ततस्तुशीतमासाद्य वायुस्तत्र प्रकुप्यति॥
कोष्ठस्थः शीतसंस्पर्शादन्तःपिण्डीकृतोमलः।
रस मुच्छोषयत्याशु तस्मात्स्निग्धं तदाहितम्॥

हेमन्त ठण्डी और रूखी होती है। सूर्य की तेजी कम और हवा तेज होती है। शीत के कारण वायु कुपित होता है। वही कुपित वायु सरदी के कारण कोष्ठ के भीतर पिण्ड-सा बन जाता

है और रस को शीघ्र सोख लेता है। इसलिए इसमें स्निग्ध पदार्थ ही हितकर हैं।

हितकारी आहार-विहार—इस ऋतु में विशेपकर पौष्टिक, वलवर्द्धक; घृत, दुग्ध, मक्खन, मलाई और खाँड़ के बने हुए पदार्थ अत्यन्त लाभदायक हैं। गेहूँ, उड़द, नवीन चावलों का भात, खीर, विविध प्रकार के पक्कान्न और मिष्टान्न, मोदक, पाक, बादाम, अखरोट, चिरौंजी, नारियल और तेल के पदार्थ प्रत्येक मनुष्य को अपनी जठराग्नि के अनुसार ही वलावल देखकर भोजन करना चाहिए। प्रतिदिन शरीर में तेल मालिश करके गरम जल से स्नान करना चाहिए। शरीर पर अगर, कस्तूरी आदि का प्रलेपन करना चाहिए। सूर्य की धूप तथा आग का सेवन करना चाहिए। व्यायाम करना भी अत्यावश्यक है। पैर में मोजे भी पहनने चाहिएँ। पहनने, ओढ़ने, विछाने के वस्त्र मोटे, रुई या ऊन के होने चाहिएँ।

अपथ्य खान-पान—शरीर को स्वस्थ रखने की इच्छा रखने वाले लोगों को वरफ, सत्तू, अत्यन्त वायु-सेवन, दुष्ट भोजन; खट्टे, कड़वे, कसैले, शीतल, वातकारी; जैसे—कसेरू, सिंघाड़े, पोस्त, आलू, जौ, पुराना अन्न, भैंस का दूध, ये सब वस्तुएँ कदापि न सेवन करनी चाहिएँ।

शिशिर—पौष और माघ इन दो महीनों को शिशिर-ऋतु कहते हैं। आकाश निर्मल होने से सूर्य की ज्योति किंचित् तीव्र होती है। पित्त कुपित होता है। साथ-ही ज्वर अधिक पाया जाता है।

हितकारी आहार-विहार—इसमें हल्का-सा विरेचन लेना चाहिए। घी, चीनी, मिश्री, जौ, गेहूँ, मूँग, चावल, गरम दूध, परवल, आँवला, नदी का जल, धनियाँ, कमलगट्टा, मुनक्का, नारियल, बकरी का दूध, कैथ, सिखरन, कसेरू, केला, जामुन, गुड़ मिला हर्र का चूर्ण, अनार, गोभी और पत्रशाकों का सेवन करना चाहिए।

अपथ्य खान-पान—तरबूज, ककड़ी, अरहर, खट्टा मट्ठा, अत्यन्त शीतल जल, मसूर, नया चावल, चन्दन का लेप, अधिक मीठा खाना, दिन में सोना और ठंढ में घूमना वर्जित हैं।

दंपति-जीवन

संसार में प्राणीमात्र अपने सुख एवं आनंद के लिए तरह-तरह की वस्तुएँ हर समय निर्मित किया करता है। वास्तव में उन वस्तुओं में क्षणिक आनंद तो अवश्य प्राप्त होता है; किंतु उनका स्थायित्व कितना होता है, यह भी उनसे छिपा नहीं है। उनके गुण-दोषों को जानते हुए भी दंपति संस्कार-वश अंधकार में पड़े रहते हैं।

प्राचीन इतिहास बतलाता है कि उस समय का दाम्पत्य-जीवन कैसा था। उस समय जो सच्चा दाम्पत्य-जीवन का आनंद था, वह आज पाश्चात्य रंग में रंगे हुए, दंपतियों को स्वप्न में भी नहीं मिल सकता। बहुत से सांसारिक नियमों में जान-बूझकर परिवर्त्तन किया

गया है; परंतु वह कहाँ तक उचित रूप से हुआ है ? आज-कल जिस प्रकार बालकों को स्कूल और कालेज में शिक्षा दी जाती है, उसी प्रकार उस समय ऋषियों के आश्रम में शिक्षा दी जाती थी और शिक्षा पूर्ण हो जाने पर विवाह-संस्कार किया जाता था। साथ ही विवाह हो जाने पर उन्हें पुनः आश्रम लौट जाना पड़ता था। उस समय उन्हें दाम्पत्य-जीवन की शिक्षा दी जाती थी। आज-कल-जैसे धूर्त यती-ऋषि भी उस समय नहीं होते थे। वे लोग हर विषय में निपुण एवं कुशल होते थे। स्वास्थ्य विषयक ज्ञान तो आजकल के बड़े-बड़े आयुर्वेद-विशारदों से कहीं अधिक चढ़ा-बढ़ा था। उसी शिक्षा का प्रभाव था कि सीता-सावित्री, एवं अर्जुन-भीष्म-जैसे सदाचारी और बलवान् होते थे।

जिस समय से उस प्रथा का लोप हुआ है, उस समय से बराबर हीन आयु एवं निस्तेज संतानें उत्पन्न हुई हैं, और हो रही हैं। शक्ति उस समय से कहीं कम है; किंतु व्यभिचार की मात्रा उस समय से कहीं अधिक है। इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें विषय-वासना की इच्छा बढ़ती जाती है। उत्तरोत्तर क्षीण होने से अधिक व्यभिचार बढ़ता गया। अंत में वह इस हालत को पहुँचा कि दाम्पत्य-जीवन ही नष्ट हो गया। प्रचीन दाम्पत्य-जीवन केवल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नहीं होता था; बल्कि गृह-कार्य, सदाचार, संतानोत्पत्ति एवं सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए होता था। उस समय इस जीवन

का उच्च आदर्श था; किंतु इस वर्तमान संसार की प्रगति ने उस को घोर निर्दयता के साथ कुचल डाला है। यदि अब भी इसका ठीक-ठीक प्रचार किया जाय, तो बहुत शीघ्र सुधार हो सकता है।

महर्षि सुश्रुताचार्य कहते हैं—सोलह वर्ष में स्त्री और पचीस वर्ष में पुरुष का वीर्य परिपुष्ट होता है। अतएव यह निश्चय हो गया कि उक्त अवस्था के पहले कदापि सहवास न होना चाहिए। एक विचारणीय विषय अब यह उपस्थित होता है कि उस अवस्था से पूर्व विवाह-संस्कार करना चाहिए या नहीं? संस्कार धर्म-शास्त्रानुकूल होता है। इसलिए उस अवस्था से पूर्व भी विवाह-संस्कार किया जा सकता है; किंतु इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उस समय से पूर्व किसी प्रकार भी सहवास न होना चाहिए। संक्षेप में इस आदर्श को बिगाड़ने वाले दो कारण मालूम पड़ते हैं—एक तो इस विषय की शिक्षा का अभाव, दूसरे सांसारिक खान-पान का अनियम। पहले कारण से तो वे उस जीवन के आदर्श को भूल गए और दूसरे कारण ने उन्हें उस कार्य में प्रवृत्त कर दिया।

भारतवर्ष में ज्यों-ज्यों अँग्रेजी सत्ता के पैर जमने लगे, त्यों-त्यों उन लोगों ने अपने यहाँ के व्यवहारों को कायम करना आरंभ कर दिया। क्रमशः उस सभ्यता का परिवर्त्तन हो गया और तरह-तरह के चाय, कहवा, काफी आदि सभ्य मादकपदार्थ भारतवर्ष में जम गए। जहाँ पर भारतीय लोग मक्खन एवं दूध-सदृश पदार्थ

खाकर बलवान् और सदाचारी होते थे, वहाँ वे घृणित पदार्थों को खा-खाकर नष्ट हो रहे हैं। सुख-पूर्वक जीवन बिताने के लिए सदैव नीरोग, सादा, स्वादयुक्त और ताजा भोजन करना चाहिए। खट्टे, चरपरे, बासी और मादक पदार्थ जीवन को नष्ट कर देते हैं। सम्पूर्ण खाद्याखाद्य पदार्थ मनुष्य की चित्तवृत्तियों को चंचल कर डालते हैं। छोटी अवस्था में सभी शारीरिक धातुएँ कमजोर हो जाती हैं। उस समय यदि उसे सँभाला जाय, तो आगे चलकर कोई विकार उत्पन्न ही नहीं हो सकता। किसी भी कोमल वस्तु को सहज ही खराब किया जा सकता है; किंतु शक्तिशाली के लिए उतनी ही शक्ति की भी आवश्यकता होती है। अतएव कम-से-कम बीस वर्ष तक खान-पान का बहुत ही ध्यान रखना चाहिए।

संक्षेप में विवाह का आदर्श दो प्रकार का है—'धर्मार्थ क्रियते भार्या'—'पुत्रार्थं क्रियते भार्या' अर्थात् धर्म के और पुत्र के लिए भार्या होती है। किंतु आज-कल के इंद्रिय-लोलुप उस आदर्श को एकदम लुप्त-सा कर रहे हैं। साथ-ही-साथ आयुर्वेद-शास्त्र भी कहता है कि मासिकधर्म होने के चार दिन बाद पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से स्त्री-प्रसंग करना चाहिए। उसके बाद कुछ लोग उसे भूलने लगे और मास के स्थान पर पक्ष हुआ। पक्ष के बाद सप्ताह हो गया। उसके बाद प्रतिदिन हुआ, अब तो दिन और रात का कुछ भी ध्यान नहीं रह गया है।

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन्हीं सात धातुओं

से शरीर की रचना हुई है। पहले जो भोजन किया जाता है, उसका परिपाक होता है। परिपाक के वाद रस वनता है, रस के वाद रक्त, रक्त के बाद मांस, मांस के वाद मेद, मेद के वाद अस्थि, अस्थि के वाद मज्जा और उसके वाद शुक्र वनता है। सब धातुओं के वाद अंत में शुक्र वनता है। शुक्र वहुत ही अल्प मात्रा में वनता है। अल्प मात्रा का इतना वड़ा दुरुपयोग और ऊपर से यह कहना कि कलियुग में लोग अल्पवयस्क होते हैं, इससे वढ़कर और मूर्खतापूर्ण वार्ता हो ही क्या सकती है! यदि आज दिन भारतवासी अपने प्राचीन गौरव को याद कर लें, तो सभी कार्य ठीक हो सकते हैं। विना इंद्रिय-संयम के कुछ भी होना असंभव है। इसके विना सुख कहाँ? दाम्पत्य-जीवन कहाँ? और वह भारतवर्ष ही कहाँ? जहाँ पर ऐसे-ऐसे अत्याचार हों, फिर भी उसे भारतवर्ष ही कहना चाहिए!

भारतवर्ष से वढ़कर दाम्पत्य-जीवन का आदर्श संसार के किसी कोने में नहीं मिल सकता। यह इस पुण्य-पावन स्थान का ही फल है कि यहाँ पर किसी प्रकार की वाधा उसके आदर्श को अपने ध्येय से नहीं गिराती। जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में तलाक और पुनर्विवाह की भरमार है, उसी प्रकार भारतवर्ष उन सभी कुरीतियों से वंचित है। कुछ लोगों की दृष्टि में उसीका वड़ा मूल्य है; किंतु संसार में हर एक देश की सभ्यता और संस्कृति अलग-अलग होती है। भारतवर्ष का गौरव इसी में है कि वह अपनी

प्राचीन संस्कृतियों को लुप्त न होने दे। परंतु यह कहाँ? यह तो अब स्वप्न-सा मालूम होता है। ज्यों-ज्यों यहाँ पर इंद्रिय-लोलुप होते जायँगे, त्यों-त्यों व्यभिचार बढ़ता जायगा। अंत में एक दिन वह आएगा, जब भारत स्वतंत्र होकर भी पाश्चात्य के ही रंग में रंगा रह जाएगा।

आज भी जो अपने प्राचीन गौरव को नहीं भूले हैं; उनमें वही प्रतिभा, वही कांति, वही बल एवं वही उत्साह है। दंपति को उचित है कि दोनों अपना स्वास्थ्य अच्छी तरह बनाकर रक्खें। जरा-सा भी यदि किसी प्रकार का कष्ट मालूम पड़े; तुरंत उसका उन्हें उपाय करना चाहिए। नवीन अवस्था में जरा भी उलट-पलट हो जाने से जीवन भार-स्वरूप हो जाता है। यौवनावस्था से ही, दाम्पत्य-जीवन की आजन्म के लिए सृष्टि संबद्ध हो जाती है। वर्तमान समय में प्रायः देखा जाता है कि अधिकतर नव-दंपति प्रदर और प्रमेह-जैसे भयंकर रोगों के शिकार बने हुए हैं। साथ-ही-साथ आजकल के विज्ञापनबाजों ने भी उक्त रोगों के बढ़ाने में बहुत सहायता पहुँचाई है। ऐसे-ऐसे रोग जिस समय हों, उसी समय किसी सद्वैद्य को दिखाकर और खूब समझ-बूझ कर औषधि करनी चाहिए। जो लोग हर तरह से बचे हों, उन्हें उचित है कि अपने पूर्वजों का अनुकरण करें, अपने गौरव का ध्यान करें। तभी दाम्पत्य-जीवन सुखी होगा, शान्ति मिलेगी एवं लोग आदर करेंगे।

कामशास्त्र की व्यापकता

बहुत-से आधुनिक पाश्चात्य-साहित्योपासक एवं नवीन सभ्यता-धारी विद्वानों की दृष्टि में, संसार में यदि कुछ है तो पाश्चात्य साहित्य, सभ्यता एवं उनकी बुद्धि-विशालता में। यदि कुछ नहीं है तो भारतीय साहित्य, सभ्यता एवं भारतीयों की बुद्धि में। यह किसी अंश तक माना जा सकता है कि उनका साहित्य भारतीय साहित्य से ऊँचा अवश्य है; किंतु सभी विषयों में नहीं। यदि किसी विषय में पाश्चात्य साहित्य अपना जोड़ नहीं रखता, तो किसी विषय में भारतीय साहित्य भी बेजोड़ है। बड़े-से-बड़े वैभवशाली पाश्चात्यवासी की तुलना अपने यहाँ के अतीत वैभवशाली से कीजिए। जरा इस पर भी विचार करने के लिए अपनी बुद्धि-शक्ति को अवसर दीजिए कि पाश्चात्य-निवासी किसकी अनुकंपा से आज वैभवशाली, विश्व-साहित्य-स्रष्टा और सभ्य-शिरोमणि हुए हैं? किसी भी देश, समाज और जाति-विशेष का इतिहास इसीलिए है कि लोग थोड़ा प्रयास करके यह समझ सकें कि हमारा देश क्या था, हम क्या थे और हमारी सामाजिक अवस्था क्या थी। वेद को भी यदि अतीत का भग्नावशेष इतिहास ही मान लिया जांय, तो भी कोई हानि नहीं है। पुराण तो सभी हमारे इतिहास की श्रेणी में रक्खे जा सकते है, और यह है भी ठीक ही। वे हमारे भूले हुए गौरव के स्मारक हैं। इसी प्रकार

प्रत्येक विषय के साहित्य-स्रष्टा को मानना पड़ेगा कि वे ऋषि आत्मज्ञानी थे—भूत, भविष्य और वर्तमान को भली-भाँति समझते थे। सभी जगह से खोज करने पर मालूम हो जायगा कि वे अपनी भावी संतान के विषय में कितना विशद ज्ञान रखते थे और कितनी स्पष्टवादिता से काम लेते थे। आयुर्वेद में औषध-मात्रा-निर्णय के प्रसंग में कहा है—

यतो मन्दाग्नयो ह्रस्वा हीनसत्वा नराः कलौ ;
अतस्तु मात्रा तद्योग्या प्रोच्यते सुज्ञसंमता।

कलियुग में मनुष्य मन्दअग्नि, अल्पकाय और हीनसत्व हो जायँगे; इसलिए वैद्य उनके योग्य मात्रा की कल्पना स्वयं सब बातें देखकर कर ले।

उपर्युक्त उद्धरण की प्राचीनता में संदेह करने का कोई कारण नहीं। वह न मेरी रचना है और न तुलसी-कृत रामायण की तरह क्षेपक ही है। वह है प्राचीन सत्ययुग के एक महान् ऋषीश्वर की रचना। अस्तु; प्राचीन ग्रन्थों के भाव को किंचिन्मात्र भी न समझकर, केवल अपनी आंग्ल-विद्वत्ता के आवेश में आकर यह कह देना कि हमारे यहाँ कुछ भी नहीं है, नितांत शैशवकालीन वार्ता के सिवा और क्या कहा जा सकता है?

कुछ लोगों का कथन है कि—"यदि यह बात वैज्ञानिक ढंग से लिखी जाती, तो अच्छा होता।" प्राचीन महर्षियों ने जो वैज्ञानिक वार्ता लिखी है, वह आजकल की वैज्ञानिक वार्ता से कहीं

ऊँची है—सर्व साधारण की बुद्धि के लिए दुर्भेद्य है। यदि वामन आम्रफल का रसास्वादन नहीं कर सकता, तो इसके माने यह नहीं है कि आम्ररस अग्राह्य, अरुचिपूर्ण एवं सबके लिए अम्लरसयुक्त है। ठीक यही हालत हमारे यहाँ बीसवीं सदी के वैज्ञानिक शब्द-शेप विद्वानों की है। उनकी धारणा है कि हम कुछ नहीं हैं; नहीं तुम सब कुछ हो; तनिक अपने पर विश्वास करो।

खासकर वात्स्यायन के काम-सूत्र के विषय पर तो आधुनिक कुछ विद्वान् उधार खाए बैठे हैं। उनका कथन है कि वात्स्यायन का काम-सूत्र अतीत काल के व्यभिचार का इतिहास-मात्र है। वे अपने नेत्र खोलें। प्राचीन समय में इसी वात्स्यायन का प्रभाव था कि लोग सदाचारी, संयमी और वीर होते थे। उसके एक-एक सूत्र में वैज्ञानिक रहस्य भरा पड़ा है। उसने जो कुछ कहा, कोई भी आधुनिक वैज्ञानिक शक्ति आज तक न कह सकी। जिस समय वात्स्यायन का अखंड प्रताप-प्रकाश देदीप्यमान था, उस समय लोग सुखी अवश्य थे। उस समय अत्यधिक वेश्यागमन, परस्त्री-गमन और तमाम अप्राकृतिक व्यभिचारों का नाम नहीं सुनाई पड़ता था। हाँ, जब से पाश्चात्य काम-कला की ज्योत्स्ना से भारतीयों को चकाचौंध करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जो संसार के वैज्ञानिक काम की जननी अब मानी जाने लगी है—तब से अवश्य ही समाचार-पत्रों के कालम रँगे मिलते हैं, नित्य ही नाना प्रकार के रोगों के संवाद सुनाई पड़ते हैं।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि काम-सूत्र की रचना महर्षि चाणक्य ने की है; उक्त महर्षि के अन्य ग्रन्थों की रचना-शैली से इसकी शैली मिलती है, अतएव यह उन्हीं की रचना है। यदि यह बात मान ली जाय, तो काम-सूत्र की रचना ईसा-शताब्दी के तीन सौ छब्बीस वर्ष पूर्व की है। यदि इसे छोड़ दिया जाय और अन्य विद्वानों की बात मान ली जाय, तो इसकी रचना ईसा-शताब्दी के दो सौ वर्ष बाद वात्स्यायन मुनि ने की है।

अब उस वैभव पर भी दृष्टिपात करना पड़ेगा। यह निर्विवाद है कि भारतीय अतीत वैभव से किसी भी बड़े-से-बड़े वैभवशाली पाश्चात्य देश की तुलना नहीं की जा सकती। हमारा मानव-जीवन किसी पुरा-पुरुष के नियम के बिना नहीं चल सकता। नियम और नियंत्रण मानव-जीवन के लिए नितान्त आवश्यक हैं। किसी काम के भले-बुरे परिणामों का ज्ञान यदि हमें नहीं है, तो निःसन्देह हम बुरा करके भी भला ही समझेंगे। इसलिए दोनों का ज्ञान अनिवार्य है। यदि हम जानते हैं कि अधिक विषय का परिणाम है वीर्यक्षय, और वीर्यक्षय का अन्तिम परिमाण है मृत्यु—तभी हम उससे बचकर अपने जीवन की रक्षा कर सकते हैं। यदि हम जानते हैं कि अग्नि का स्वभाव है भस्म करना, तभी हम उसके स्पर्श से बच सकते हैं। यदि हम जानते हैं कि एकान्त दन्तच्छेद और नखच्छेद का परिणाम है, काम-जागृति—तभी हम उससे हर समय बच सकेंगे और काम के ही समय उसका उपयोग कर

सकेंगे। यदि हम जानते हैं कि सौंदर्य का क्या मूल्य है और वह किस लिए है, तभी उसका उपयोग और कद्र करना भी सीख सकते हैं। अन्यथा, काम के विषय में पशु और मनुष्य में कोई अंतर न रह जायगा। दोनों एक ही श्रेणी के समझे जायँगे। आज भी जो कामशास्त्र के विषय में बुरी धारणा रखते हैं, उनसे मैं यह पूछने के लिए तैयार हूँ कि क्या वे पुत्रोत्पत्ति के लिए ही पत्नी-सहवास करते हैं? कदापि नहीं। सच्चे लोग तो यही कहेंगे कि काम-वासना की तृप्ति के लिए ही मैं विषय करता हूँ।

वात्स्यायन ने जो कुछ भी लिखा है, उसमें तत्त्व है। सभी बातें कामपूर्ति के उद्देश्य से ही नहीं बताई गई हैं। वेद के गृह्यसूत्र में भी यह कहा है कि पति-पत्नी परस्पर किस प्रकार एक दूसरे को प्रसन्न करें। इसके माने यह नहीं कि वेद अश्लील ग्रन्थ है और समाज में व्यभिचार फैला देगा। इन सब आदर्शों को सन्मुख रखकर यदि हम यह कहें कि वात्स्यायन ऋषि विश्व-साहित्य-स्रष्टा थे, तो कोई अत्युक्ति न होगी। वात्स्यायन के काम-सूत्र का विश्वव्यापी प्रभाव हुआ था। वह भारतीय कामशास्त्र का प्रतिबिम्ब है। भारत के लिए जिस प्रकार वात्स्यायन का कामसूत्र मान्य है, उसी प्रकार योरप और अमेरिकावालों के लिए हैवलॉक ऐलिस का साइकालोजी आफ सेक्स है, और अब फ्रांसवालों के लिए अलिफ़लैला है। यदि साइकालोजी आफ़ सेक्स को योरप के बड़े-बड़े लोगों की काम-संबंधी अनुभूत बातों का विशेष संग्रह-मात्र कहें,

तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसका विशेष भाग केवल इसी से परिपूर्ण है कि अमुक व्यक्ति ने अपने जीवन में काम के संबंध में ऐसा अनुभव किया है। यदि उसे कोई व्यक्ति बड़े लोगों की काम-संबंधी आत्मकथा भी कह डाले, तो कोई हानि नहीं।

अलिफ़लैला भी मुस्लिम-युग की अनेक प्रेम-कथाओं से ही पूर्ण किया गया है। किंतु वात्स्यायन की विशेषता को कोई भी नहीं पा सका। साइकालोजी आफ़ सेक्स बड़े-बड़े छः-सात भागों में प्रायः एक शत मुद्रा व्यय करके प्राप्त किया जा सकता है। अलि-फ़लैला भी डेढ़ सहस्र मुद्राओं में फ्रांस से प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान समय में अलिफ़लैला के जितने संस्करण भारत या अन्यत्र देखे जाते हैं, वे उसके विकृत रूप-मात्र हैं। इसलिए उन्हें देखकर कोई भी नहीं कह सकता कि यह काम-शास्त्र की पुस्तक है। संसार में काम-शास्त्र की केवल तीन ही प्रधान पुस्तकें हैं। उन तीनों में सर्वश्रेष्ठ वात्स्यायन का काम-सूत्र ही है। जहाँ डेढ़-डेढ़ सहस्र मुद्रा व्यय करके भी काम-संबंधी पूरी-पूरी जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकती, वहीं पाँच-सात रुपयों में ही काम-संबंधी संपूर्ण बातें जानी जा सकती हैं। उपर्युक्त दोनों पुस्तकों को पढ़कर भी कोई व्यक्ति यह निर्णय नहीं कर सकता कि काम-शास्त्र की कौन-सी बात ग्राह्य है और कौन-सी अग्राह्य। यह बात केवल वात्स्यायन ही कह सके कि अमुक बात से यह हानि होगी। उदा-हरणार्थ, पारदारिक अधिकरण में वात्स्यायनजी ने यह सब बातें

सकेंगे। यदि हम जानते हैं कि सौंदर्य का क्या मूल्य है और वह किस लिए है, तभी उसका उपयोग और कद्र करना भी सीख सकते हैं। अन्यथा, काम के विषय में पशु और मनुष्य में कोई अंतर न रह जायगा। दोनों एक ही श्रेणी के समझे जायँगे। आज भी जो कामशास्त्र के विषय में बुरी धारणा रखते हैं, उनसे मैं यह पूछने के लिए तैयार हूँ कि क्या वे पुत्रोत्पत्ति के लिए ही पत्नी-सहवास करते हैं? कदापि नहीं। सच्चे लोग तो यही कहेंगे कि काम-वासना की तृप्ति के लिए ही मैं विषय करता हूँ।

वात्स्यायन ने जो कुछ भी लिखा है, उसमें तत्त्व है। सभी बातें कामपूर्ति के उद्देश्य से ही नहीं बताई गई हैं। वेद के गृह्यसूत्र में भी यह कहा है कि पति-पत्नी परस्पर किस प्रकार एक दूसरे को प्रसन्न करें। इसके माने यह नहीं कि वेद अश्लील ग्रन्थ है और समाज में व्यभिचार फैला देगा। इन सब आदर्शों को सन्मुख रखकर यदि हम यह कहें कि वात्स्यायन ऋषि विश्व-साहित्य-स्रष्टा थे, तो कोई अत्युक्ति न होगी। वात्स्यायन के काम-सूत्र का विश्वव्यापी प्रभाव हुआ था। वह भारतीय कामशास्त्र का प्रतिबिम्ब है। भारत के लिए जिस प्रकार वात्स्यायन का कामसूत्र मान्य है, उसी प्रकार योरप और अमेरिकावालों के लिए हैवलॉक ऐलिस का साइकालोजी आफ सेक्स है, और अब फ्रांसवालों के लिए अलिफ़लैला है। यदि साइकालोजी आफ़ सेक्स को योरप के बड़े-बड़े लोगों की काम-संबंधी अनुभूत बातों का विशेष संग्रह-मात्र कहें,

तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसका विशेष भाग केवल इसी से परिपूर्ण है कि अमुक व्यक्ति ने अपने जीवन में काम के संबंध में ऐसा अनुभव किया है। यदि उसे कोई व्यक्ति बड़े लोगों की काम-संबंधी आत्मकथा भी कह डाले, तो कोई हानि नहीं।

अलिफ़लैला भी मुस्लिम-युग की अनेक प्रेम-कथाओं से ही पूर्ण किया गया है। किंतु वात्स्यायन की विशेषता को कोई भी नहीं पा सका। साइकालोजी आफ़ सेक्स बड़े-बड़े छः-सात भागों में प्रायः एक शत मुद्रा व्यय करके प्राप्त किया जा सकता है। अलिफ़लैला भी डेढ़ सहस्र मुद्राओं में फ्रांस से प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान समय में अलिफ़लैला के जितने संस्करण भारत या अन्यत्र देखे जाते हैं, वे उसके विकृत रूप-मात्र हैं। इसलिए उन्हें देखकर कोई भो नहीं कह सकता कि यह काम-शास्त्र की पुस्तक है। संसार में काम-शास्त्र की केवल तीन ही प्रधान पुस्तकें हैं। उन तीनों में सर्वश्रेष्ठ वात्स्यायन का काम-सूत्र ही है। जहाँ डेढ़-डेढ़ सहस्र मुद्रा व्यय करके भी काम-संबंधी पूरी-पूरी जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकती, वहीं पाँच-सात रुपयों में ही काम-संबंधी संपूर्ण बातें जानी जा सकती हैं। उपर्युक्त दोनों पुस्तकों को पढ़कर भी कोई व्यक्ति यह निर्णय नहीं कर सकता कि काम-शास्त्र की कौन-सी बात ग्राह्य है और कौन-सी अग्राह्य। यह बात केवल वात्स्यायन ही कह सके कि अमुक बात से यह हानि होगी। उदाहरणार्थ, पारदारिक अधिकरण में वात्स्यायनजी ने यह सब बातें

बताई हैं कि अमुक-अमुक स्थान में इन-इन प्रकारों से दूसरे की स्त्री पर अधिकार जमाया जा सकता है। सभी बातों और प्रकारों की पूर्ण रोचक ढंग से विवेचना की गयी है। अंत में जाकर अधि-करण समाप्त करते हुए कहा है कि ये संपूर्ण बातें मैंने इसलिए कही हैं कि लोग अपने सहचरियों को दूसरों से रक्षा कर सकें—याने संसार में अनेक प्रकार के धूर्त मिलते हैं और उनसे मर्यादा बचा-ना सहज नहीं है। अस्तु! थोड़ी देर के लिए यदि हम इन्हें तमाम अश्लील और व्यभिचार फैलानेवाली बातें ही मान लें, तो उसके लिए केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि हमें कोई व्यक्ति यह बतलाता है कि यह दुर्गम पथ उस खाई में पहुँचता है और इस विधि से वहाँ पहुँचा जा सकता है; किंतु वहाँ पहुँचकर प्राण-नाश की निश्चित संभावना है, तो उसे हम अच्छा ही कहेंगे।

काम-सूत्र के वर्तमान संस्करणों को देखकर वात्स्यायन की बुद्धि पर किसी प्रकार का दोषारोपण नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह वात्स्यायन की अल्पबुद्धिता नहीं है। किसी भी साधारण इतिहासज्ञ से छिपा नहीं है कि मुगल-साम्राज्य ने हिंदू-संस्कृति को नष्ट करने के लिए कोई भी काम बाकी नहीं रक्खे थे। उस समय हमारे वेदों, पुराणों, धार्मिक एवं सामाजिक ग्रंथों और वैज्ञानिक पुस्तकों तथा यज्ञोपवीतों को जलाकर उसी से बादशाहों के स्नान कराने का हम्माम गरम किया जाता था। यही कारण है कि बहुत से ग्रंथों का नाम तो अवश्य मिलता है; किंतु उनका पता नहीं है।

कुछ मिलते अवश्य हैं; परंतु एकदम अस्त-व्यस्त। इसी प्रकार वात्स्यायन-कृत काम-सूत्र की संपूर्ण पुस्तक अप्राप्य है। प्रायः सन् १९१८ या १९ के लगभग काशी-निवासी पंडितप्रवर गोस्वामी श्रीदामोदरलालजी शास्त्री, षड्दर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न ने बर्लिन से मूल-पुस्तक की प्रतिलिपि मँगवाकर उसकी टिप्पणी लिखी। फिर भी अभी तक वात्स्यायन कामसूत्र का बहुत-सा अंश नहीं प्राप्त हो सका है।

किसी विद्वान् ने अँगरेजी-भाषा में भी वात्स्यायन के काम-सूत्र का अनुवाद किया है। वह अनुवाद पेरिस से प्रकाशित हुआ है। वह पेरिस-संस्करण भी उक्त गोस्वामी जी की ही प्रति का अनुवाद मालूम होता है। अतएव यह निर्विवाद है कि अभी तक वात्स्यायनजी की पुस्तक का पूर्ण अंश नहीं प्राप्त हो सका है। इसलिए इस निश्चय में संदेह नहीं रह जाता कि काम-सूत्र अपूर्ण नहीं है। अब लोगों को जरा सोचना चाहिए कि जो चीज अपनी अपूर्णावस्था में अद्वितीय है, भला पूर्णावस्था में उसकी क्या विशेषता होगी! संसार में अश्लील वस्तु नहीं, बल्कि अपनी रुचि है। सुनने में आता है कि आचार्य कुचुमार-कृत भी एक काम-सूत्र है। उसकी प्रतिलिपि नेपाल-राज्य के काठमण्डू में अब भी सुरक्षित है; और कहीं उसका पता नहीं लगता। किंतु उसके प्रमाण के विषय में वात्स्यायन का काम-सूत्र ही पर्याप्त है। वात्स्यायन मुनि ने कई स्थलों पर इनका जिक्र किया है। इससे यह भी मालूम होता है कि कुचुमार ऋषि-कृत काम-सूत्र, वात्स्यायन के काम-सूत्र से

भी पहले की रचना है। इन ऋषियों ने मानव-जीवन की कितनी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और छोटी-से-छोटी बातों पर भी विचार किया है, जिसका विश्लेषण देखकर उनकी ज्ञान-विशदता और अध्ययन-शीलता का पूरा परिचय मिलता है। प्रत्येक प्रांत और देश की स्त्रियों के हाव-भाव, कटाक्ष, स्वभाव-वैचित्र्य, कामेच्छा और रति के प्रकारों का पूर्ण विवेचन किया गया है। अब क्रम से काम-सूत्र के प्रत्येक अधिकरण का संक्षिप्त परिचय कराया जायगा।

आरंभ के प्रथम अधिकरण का प्रथम सूत्र है—धर्मार्थ-कामेभ्यो नमः। अर्थात्—धर्म, अर्थ और काम को नमस्कार है। वास्तव में ये तीनों परस्पर एक दूसरे से संबद्ध हैं। सबसे पहले धर्म है, उसके बाद अर्थ है। अर्थात्—जब धर्म किया जायगा, तभी अर्थोपार्जन होगा, और जब अर्थोपार्जन होगा, तभी धर्म की गति भी निरंतर, अप्रतिहत चलती रहेगी। इसी प्रकार जब धर्म और अर्थ दोनों सिद्ध किये जायँगे, तभी काम भी साथ देगा। अर्थ सुख देगा, तभी काम जाग्रत हो सकेगा। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम तीनों मानव-जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त इस अधिकरण में संपूर्ण अधिकरणों का संक्षिप्त परिचय कराया गया है और कुछ खास-खास बातें बताकर यह समाप्त कर दिया गया है।

दूसरे अधिकरण में स्त्री-पुरुषों के भेद-उपभेद और शरीर-रचना का थोड़ा-सा अंश निर्दिष्ट किया गया है। रति-संपादन-

कला और उसके उद्दीपन के लिए प्रणयलीला आदि का भी विशद वर्णन है।

तीसरे अधिकरण में मनन करने योग्य बातें हैं। ब्रह्मचर्य के बाद किस प्रकार शिक्षा और स्वास्थ्य का संपादन कर, सांसारिक जीवन में प्रवेश किया जा सकता है—आदि बातें इस अधिकरण से सीखी जा सकती हैं। वैवाहिक जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का सविस्तर वर्णन मिलता है। इस अधिकरण को यदि हम हिंदू-जाति का वैवाहिक इतिहास कहें, तो कोई हानि न होगी। इसके अध्ययन से मालूम होता है कि प्राचीन भारत में उस समय कितने ढंग के विवाह होते थे। एक-आध तो आज भी अनेक परि-वर्त्तनों के बाद हिंदू-समाज में बराबर व्यवहृत हैं। उस युग में ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गांधर्व, आसुर, पैशाच और राक्षस—ये आठ प्रकार के विवाह हुआ करते थे।

वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कन्या को वर के साथ बिदा करने के माने ही ब्राह्म विवाह होता था। वर-कन्या का परस्पर प्रतिज्ञा-बद्ध जीवन बिताने का नाम प्राजापत्य विवाह था। वर से कुछ लेकर कन्या देने को आर्ष विवाह कहते थे। उस समय आर्ष विवाह का यथेष्ट प्रचार था; क्योंकि कैकेयी के विवाह के विषय में वाल्मीकीय रामायण में लिखा है—

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम्॥

भाई, पहले मेरे पिता ने जब तुम्हारी माता से विवाह किया, उस समय उन्होंने तुम्हारे नाना से राज्य देने की प्रतिज्ञा की थी। अर्थात्—तुम्हारी कन्या से जो पुत्र होगा, वही राज्य पाएगा।

अतएव यह निश्चित है कि उस समय आर्ष विवाह का प्रचलन अवश्य था। अग्नि के समक्ष हवनादि क्रियाओं के बाद जो प्रतिज्ञा की जाती थी, उसे दैव विवाह कहते हैं। यही दैव विवाह इस समय भी कुछ परिवर्त्तनों के साथ हिन्दू-समाज में प्रचलित है। इस दैव विवाह का वर्णन संपूर्ण धार्मिक ग्रंथों में मिलता है। शेष चार प्रकार के विवाह काम्य विवाह कहे जाते थे। विवाह-वय-निर्णय जैसा हमारे धर्म-ग्रन्थों ने कन्या-वर के लिए किया है, वही निर्णय वात्स्यायन भी मानते हैं। इन्होंने भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होनेवाले विवाहों का भी नामकरण किया है। अनेक सूत्रों से इस बात का भी पता चलता है कि अन्य चार प्रकार के जो विवाह उस समय प्रचलित थे, वे एकदम निकृष्ट श्रेणी के थे। सामाजिक व्यवस्था उस समय एकदम नहीं थी। सब अस्त-व्यस्त थे। शक्तिशाली मनुष्य जिस स्त्री को चाहते, पकड़ ले जाते और काम-पिपासा तृप्त करके अपने पास रख लेते थे। केवल काम-सम्बन्ध को ही वे एक विवाह समझे थे। इसे ही लोग आसुर, पैशाच और राक्षस विवाह कहते थे।

धीरे-धीरे सामाजिक विकास ने यह नियम बना दिया कि विवाह के पूर्व कन्या-पक्ष की अनुमति अनिवार्य है। अनुमति के

वाद जो विवाह यज्ञ-हवनादि कृत्यों के साथ सम्पादित किया जाता था, उसे गान्धर्व विवाह कहते थे। वात्स्यायन ने इसी अधिकरण में सवर्ण विवाह की चर्चा की है। प्रत्येक जाति के मनुष्य को अपनी जाति की कुमारी कन्या से ही विवाह करना चाहिए। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि वात्स्यायन ने धार्मिक तत्त्वों का बड़ा गहरा अध्ययन किया था। धर्मशास्त्रों में तो असवर्ण विवाह का भी उल्लेख मिलता है; किन्तु वात्स्यायन ने सवर्ण विवाह का ही समर्थन किया है। उनका कथन है कि असवर्ण स्त्री, विवाहिता स्त्री और वेश्या के साथ संबंध करना न तो समाज के लिए हितकर है और न देश के लिए ही कल्याणप्रद है। इससे स्पष्ट है कि वे हिन्दू-संस्कृति के कितने बड़े कट्टर पक्षपाती थे।

विवाह के पश्चात् किस प्रकार वर-वधू को एक दूसरे से परिचय प्राप्त करना चाहिए, इसका कैसा सुंदर और मनोवैज्ञानिक वर्णन है कि उनकी बुद्धि और लोक-ज्ञान को मानने के लिए एकदम बाध्य हो जाना पड़ता है। उनका कथन है कि भूलकर भी नव-वधू के साथ बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। उसे अनेक मृदु उपायों-द्वारा मूक भावों को समझाना और रति-लालसा पैदा कर उसकी लज्जा को हटाना चाहिए। इसे कोई भी समझदार आदमी अश्लील कहने का साहस नहीं कर सकता। इसमें बहुत बड़े विज्ञान की प्रचुरता है। नव-वधू में लज्जा का होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। बलात्कार से निश्चय ही अनेक स्नायुएँ बिगड़

सकती हैं। अनेकानेक भयंकर व्याधियाँ जीवन के संपूर्ण भावी सुख-स्वप्नों का पल-मात्र में अंत कर सकती हैं।

चौथे अधिकरण में आचार्य ने अर्थशास्त्र का अच्छा परिचय कराया है। उनका मत है कि भार्या ही वास्तविक गृह-स्वामिनी हो सकती है। गृह-स्वामिनी की बड़ी सुंदर व्याख्या की है। इसका कुछ रूप वेद के गृह्यसूत्र के आधार पर मालूम पड़ता है। छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी बातों के विषय में काफी खोज के साथ लिखा है। गृह-प्रबंध की सभी बातों पर उत्तमता के साथ विचार किया है। पति के प्रवासकाल में पत्नी की जीवनचर्या का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन है। यह अधिकरण भी उपयोगी और मनो-रंजक है।

पाँचवें अधिकरण में पारदारिक विवरण है। इसका कुछ जिक्र इसी लेख में पहले किया जा चुका है। परदाराभिगमन वास्तव में समाज के लिए अत्यंत निंद्य है। इससे बढ़कर हिंदू-संस्कृति को नष्ट करनेवाला घातक उपाय दूसरा और क्या हो सकता है? किंतु किसी-न-किसी रूप में यह सनातन से चला आ रहा है—किसी युग में कम और किसी में अधिक। परन्तु वात्स्यायन ऋषि ने पारदारिक अधिकरण बनाकर वास्तव में बड़ा उपकार किया है; क्योंकि उन बातों का ध्यान रहने से मनुष्य धूर्तों से अपनी इज्जत भली-भाँति बचा सकता है। यदि इस अध्याय को कोई व्यक्ति अश्लील या समाज के लिए घातक कहता है, तो निश्चय ही

वह महान् अंधकार में है। इसी अधिकरण के उत्तरार्द्ध में आचार्य ने स्त्री-पुरुष का चरित्र-चित्रण किया है। उनका मत है कि स्त्रियों का चरित्र अधिक कलुषित होता है। किंतु किसी अंश में उनका यह कथन नितांत भ्रमपूर्ण कहा जा सकता है; क्योंकि स्त्रियों के बिगाड़ने का सारा दोष कामी पुरुषों पर ही है। हाँ, यह अवश्य है कि कामशक्ति के आधिक्य से स्वल्प प्रयास में ही स्त्रियाँ काम के वशीभूत होकर अपना अमूल्य सतीत्व नष्ट कर देती हैं, नरक के गर्त में चली जाती हैं, सारा विवेक नष्ट हो जाता है। अंत में आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य हो जाती हैं।

आचार्य वात्स्यायन ने इसके बाद उन कारणों की विवेचना की है, जिनके कारण पति की जीवितावस्था में भी अनेक स्त्रियाँ दूसरे पुरुष की इच्छा करती हैं। इसका कुछ सामंजस्य स्मृतियों में भी है। सर्वसाधारण यही कहेंगे कि उत्कट कामेच्छा से ही ऐसा होता है, किंतु इसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे कारण हैं; जैसे—पति का कृश, अति स्थूल, लँगड़ा-लूला, काना, बहरा, गूँगा, कोढ़ी और क्रोधी आदि होना। इन कारणों से भी चंचल स्त्रियाँ अपने को पतिता बना देती हैं। इन कारणों के उल्लेख में भी बहुत ही मधुर मनोवैज्ञानिक गंध का आनन्द मिलता है। संक्षेप में आचार्य ने हीनचरित्रा स्त्रियों के उन हाव-भाव, कटाक्ष एवं आचरणों का वर्णन किया है, जिनके कारण मनुष्य सहज ही अपने को खो बैठता है। अस्तु! इसी प्रकार व्यभिचारियों का भी

विशद तत्त्व वर्णित है, जो सहज ही सती-साध्वी और भोली-भाली सच्चरित्राओं को अपने मोहपाश में फँसाकर सदैव के लिए उनका जीवन नष्ट कर देते हैं। इस तरह समाज के लिए यह अधिकरण अत्यंत आवश्यक अंग बन गया है।

वात्स्यायन काम-सूत्र का छठा अधिकरण वैशिक है। इसमें तमाम वेश्याओं की समालोचना है। यह मानी हुई बात है कि जितने सभ्य देश हैं, सभी में सभ्यता की उच्चता की दृष्टि से इन वेश्याओं की संख्या अधिक पाई जाती है। योरप, अमेरिका, जर्मन और फ्रांस आदि विलासप्रधान सभ्य देशों में इनकी संख्या अत्यधिक है। भारतवर्ष में भी अतीत से इनका इतिहास मिलता है। पुराण आदि में भी इनका अस्तित्व प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। वात्स्यायन ने इनके संपूर्ण भेदों और उपभेदों का वर्णन प्रचुर मात्रा में किया है। मनुष्य किन कारणों से इनके चंगुल में फँसकर धन, धर्म और शरीर का नाश होने पर इनके द्वारा अपमानित किया जाता है, और वे किस प्रकार उसे हर तरह से निस्सत्त्व कर अलग कर देती हैं! वेश्यागमन की अन्य हानियों पर भी बहुत कुछ प्रकाश डालने का यत्न किया गया है। क्या इतना उपयोगी अधिकरण भी कोरे अश्लीलता के ढोंग से निकाला जा सकता है, जब कि समाज के लिए नितांत आवश्यक है? इस अधिकरण के अध्ययन से मनुष्य इनसे अपनी पूर्ण रक्षा कर सकता है।

इस पुस्तक का सातवाँ अधिकरण वाजीकरण और तंत्र-मंत्र

अध्याय है। इसमें वाजीकरण औषधोपचार का उल्लेख है। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पूर्ण प्राकृतिक उपायों का अनुसरण करके, तो मनुष्य को दवा-दारू की आवश्यकता होती ही है; किंतु जो गृहस्थ हैं, जिन्हें काम-वासना संतत व्याकुल करती रहती है, भला वे कैसे नीरोग रह सकेंगे और उन्हें दवा-दारू की आवश्यकता न पड़ेगी? और यह भी संभव नहीं कि संसार में रहकर मनुष्य काम से एकदम अलग ही रह सकेगा। जहाँ काम है, वहाँ वल-संचय की भी आवश्यकता है। अतएव वीर्यवर्द्धक—वाजीकरण औषधियों का योग निंद्य नहीं है। फिर भी मनुष्य को एकदम वीर्यवर्द्धक औषधियों के अवलम्ब पर शरीर नष्ट नहीं कर देना चाहिए। हाँ, अब विचारणीय प्रश्न तंत्र-मंत्र का है। यह अंश इस बात का द्योतक है कि प्राचीन समय में तंत्र-मंत्र का यथेष्ट प्रचार था। तंत्र-मंत्र के अन्य वहुत-से ग्रंथ ही अलग मिलते हैं, जिनके आधार पर इसका अनुमान लगाया जा सकता है। अनेक तंत्रशास्त्री प्राचीन समय में हो गये हैं, जो केवल तंत्र के वल से संसार की संपूर्ण बाधाओं का अंत कर देते थे, और आज भी लोग उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए पाए जाते हैं। अव भी वंगाल, उड़ीसा और बिहार-प्रान्त के दरभंगा आदि स्थानों में तंत्र-मंत्र का वहुत वड़ा साम्राज्य है। वहाँ पर वहुतों की जीविका तंत्र-मंत्र से ही चलती है। फिर भी, संपूर्ण भारतवर्ष के लिए यह कदापि उपयोगी नहीं माना जा सकता। किंतु एकदम इसकी अव-

हेलना भी नहीं की जा सकती। अब भी बहुत बड़ा भारतीय समुदाय इसका कट्टर पक्षपाती है; किंतु वह कट्टरता अंधविश्वास है। इसमें तत्त्व का अंश प्रायः नहीं के समान है। इसके लिए केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि किसी व्यक्ति को यह संदेह हो जाय कि अमुक स्थान पर प्रेत वास करता है और हमारे ऊपर उसका प्रकोप है, तो निश्चय ही उसे तंत्र-मंत्र की आवश्यकता होगी। इसके बिना वह कदापि त्राण नहीं पा सकता। अस्तु ! यह मालूम होता है कि वात्स्यायन के समय में तंत्र-मंत्र का अच्छा प्रचार था। इसीलिए उन्हें भी समयानुकूल अपनी पुस्तक में इस विषय को आश्रय देना पड़ा।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करने के लिए कामशास्त्र कितनी आवश्यक वस्तु है। कामशास्त्र के बिना जो मनुष्य रतिक्रिया में प्रवृत्त होता है, उसकी रति और पशु-रति में कोई अन्तर नहीं है। आजकल भारतीय समुदाय का अकारण ही कामशास्त्र पर कोप है। यही कारण है कि अनेक विद्वान् भी इस विज्ञान से कोरे हैं, और यह बताने में नितान्त असमर्थ हैं कि रति क्या वस्तु है, पुत्रोत्पत्ति के अतिरिक्त वह क्यों की जानी चाहिए, कामशास्त्र का अध्ययन क्यों अनिवार्य है। जिस किसी से भी पूछा जायगा, वह झेंपकर सिर नीचा कर लेगा, समुचित कोई उत्तर नहीं दे सकता। रति-क्रिया का स्वास्थ्य से भी बहुत बड़ा सम्बन्ध है। कुछ लोग इससे चौंकेंगे,

किन्तु नहीं, इसमें तत्त्व है। निरर्थक यह नहीं लिखा गया है। थोड़ा भी सोचने से सब बातें आसानी से समझ में आ जायँगी। जिस प्रकार मानव-जीवन के लिए भोजन आवश्यक है, उसी प्रकार गृहस्थ के लिए रति-क्रिया भी आवश्यक है। हाँ, उसके साथ ही यह भी है कि जिस तरह मनुष्य अधिक भोजन करके मृत्यु प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार अत्यधिक रति-क्रिया भी मृत्यु का कारण हो सकती है। रति-क्रिया का मुख्य उद्देश्य तो पुत्रोत्पत्ति ही है, किन्तु सांसारिक जीवन में रहकर उससे असहयोग नहीं किया जा सकता। वह तो अनिवार्य-सा हो रहा है। किसी-न-किसी प्रकार अवश्य ही उसका संसर्ग हो जायगा। इसीलिए कामसूत्र का अध्ययन बहुत ही आवश्यक हो गया है। उसके बिना मनुष्य कदापि अपने को सँभालने में समर्थ नहीं हो सकता।

अब थोड़ा इस पर भी विचार करना चाहिए कि जब प्राचीन समय में गुरु-गृह ही में इसकी शिक्षा मिलती थी, तो क्या वह समय असभ्यता का था? कदापि नहीं। ज्यों-ज्यों देश दूसरों की सभ्यता में रँगता गया, त्यों-त्यों अपनी सभ्यता के अभिमान में इस शिक्षा का लोप होता गया। अंत में धीरे-धीरे यह शास्त्र लुप्तप्राय हो गया। लोग इससे घृणा करने लगे। वर्तमान समय में घृणा के एक कारण धूर्त प्रकाशक भी हैं, जो अपनी धन-लोलुपता के कारण तरह-तरह के चटक-मटकदार चित्रों से सुसज्जित कर पाठकों को धोखा देते हैं। किन्तु मननशील पाठकों को रत्न

और काँच के चुनाव में थोड़ा विचार करना चाहिए, न कि किसी ने काँच को रत्न कहकर दे दिया, और ठगे जाने पर रत्नराशि को भी काँच-समूह समझने लगे। इस "असली" कामसूत्र या कोक-शास्त्र ने संसार को अंधा बना दिया है। समाचार-पत्रों में प्रायः इसी के विज्ञापन पढ़ने को मिलते हैं और ऐसी पुस्तकें तो केवल रुपया पैदा करने की एकमात्र कुंजी ही हैं। पुस्तक खरीद कर लोग मुँह ताकते रह जाते हैं। किन्तु इससे वात्स्यायन के कामसूत्र का महत्त्व नहीं घटना चाहिए; उससे घृणा न करनी चाहिए। वह घृणा की वस्तु नहीं; बल्कि आदर की चीज है। कामशास्त्र सतत मनन और अध्ययन की वस्तु है। इसकी प्राचीनता, व्यापकता और उपयोगिता के विषय में किसी प्रकार का भी संदेह करने की आवश्यकता नहीं। काम ने देवताओं को भी नहीं छोड़ा। वह अनादि है—ग्राह्य है, और कामशास्त्र समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है।

दाम्पत्य-जीवन और काम-विज्ञान

सुपथगामी और शिक्षा-प्राप्त मनुष्य ही जीवन की आनन्द-मय पगदंडियों को निर्विघ्न समाप्त कर सकता है। उचित-अनुचित, भले-बुरे एवं अपने इष्ट-अनिष्ट का ज्ञान रखने वाला एक भिखारी, अज्ञानी चक्रवर्ती की अपेक्षा सुखी और भाग्यवान्

समझा जाता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने शरीर का पूरा-पूरा ज्ञान होना आवश्यक है, चाहे वह बुरा हो या भला। किसी प्रवाह-विशेष में पड़कर वहने की अपेक्षा एक किनारे पर बैठकर उस प्रवाह की गति को देखना और उसके भविष्य पर विचार करना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण और आवश्यक है। भावुकता के आवेश में जीवन को नष्ट करना बुद्धिमत्ता के विरुद्ध है। मानव-प्रकृति अनुकरणशील है। आज हमारा भारतवर्ष अनुकरण के उस शिखर पर पहुँच चुका है, जहाँ से पतन अवश्यम्भावी और घोर अनिष्टकारक है। खान-पान, रहन-सहन, विचार-विवेक—सभी बातों में वह पाश्चात्य रँग में रँगा जा रहा है। आज पाश्चात्य संसार विलासिता के उस शिखर पर पहुँच चुका है, जहाँ प्रायः सीमा ही नष्ट हो जाती है। किंतु वह उस सीमा तक पहुँचकर भी काम-साहित्य से किसी प्रकार की घृणा नहीं करता; वरन् प्रेम करता है। वह उसके महत्त्व को खूब समझता है। विषय-भोग के सीमोल्लंघन का एकांत फल है—वीर्य-क्षय, अल्पायु और असामयिक मृत्यु। तो भी पाश्चात्य देशों के निवासी भारतीयों की अपेक्षा अधिक दिनों तक जीवित रहते हैं। वे जिस प्रकार विषय-भोग से प्रेम रखते हैं, उसी प्रकार काम-विज्ञान को भी दाम्पत्य-जीवन का एक विशेष अंग समझते हैं—उस साहित्य का अध्ययन करते हैं। वहाँ के प्रत्येक दम्पति का कर्तव्य है कि वह उस विषय की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर ले। इसे वे अच्छा समझते हैं, बुरा नहीं।

वे भारतीयों की भाँति केवल भावुकता के कारण यथार्थवाद को छिपाकर आदर्शवाद की ओर प्यासे मृग की भाँति नहीं दौड़ते। कुछ लोग कह सकते हैं कि भारतीयों की अल्पायु का एकमात्र कारण उनकी निर्धनता है; किंतु यह भ्रम है। भारतवर्ष में प्रदर, प्रमेह और यक्ष्मा-जैसी भयंकर व्याधियों का शिकार अधिकतर धनी नवयुवक समाज ही हो रहा है। उससे भी अधिक बेचारी कोमल युवतियाँ तो आये दिन मृत्यु का आलिंगन किया ही करती हैं। उन्हें किसी प्रकार खाने-पीने की तकलीफ नहीं होती, तरह-तरह के पौष्टिक खाद्यपदार्थ उनके लिए सुलभ हैं, जीवनोपयोगी अनेक विभूतियाँ उनकी दासी होती हैं। किंतु फिर भी ऐसा क्यों? इसका एक ही उत्तर है—शारीर-विज्ञान एवं काम-शास्त्र की अनभिज्ञता।

बाल्यकाल यों ही व्यतीत हो जाता है। केवल किसी एक भाषा के सीखने में महत्त्वपूर्ण समय और जीवन नष्ट कर दिया जाता है। सदाचार एवं सांसारिक ज्ञानशून्य ग्रैजुएट नवयुवक जिस समय जीवन के सर्वोपयोगी महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में अवतीर्ण होने की तैयारी करता रहता है, ठीक उसी समय उसके गले में जीवन-संग्राम की बेढब रस्सी लटका दी जाती है। उस समय उसकी दशा ठीक विद्युत के सूक्ष्म तार के स्पर्श के समान होती है। वह नहीं समझ पाता कि इसके स्पर्श से क्या हानि होनी है। अथवा यों कहिए कि अबोध बालक के सामने जीवित सर्प छोड़ देने-जैसी दशा होती है। वह नहीं समझ सकता कि इसके पकड़ लेने से मृत्यु

का आलिंगन करना पड़ेगा; क्योंकि वह अबोध है। ठीक यही दशा हमारे नवयुवक-समाज की भी है।

बाल्यकाल व्यतीत होने पर उसे दो मार्ग मिलते हैं। एक तो दुर्गम अवश्य है, किंतु उसका बाह्य आवरण इतना सुंदर है कि हठात् वह उसकी ओर आकृष्ट हो ही जाता है और उस पथ पर चलने के लिए उसका मन लालायित हो उठता है। दूसरा पथ सुगम अवश्य है, उस पर चलकर वह भली भाँति अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है, किंतु उसका बाह्य आवरण आभ्यंतर की भाँति सुंदर नहीं—बल्कि असुंदर है, शुष्क है, एवं निर्जीव है। ऐसे दो रास्तों के मोड़ पर पहुँचकर वह अनुभवहीन नवयुवक अनायास ही बाह्य आडम्बर पर मुग्ध होकर उसकी ओर आकृष्ट हो जायगा। उस समय उसकी रही-सही विवेक-बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। हाँ, विवेक से मनुष्य उसी समय काम ले सकता है, जब उसे इस बात का पूर्ण ज्ञान हो कि बाह्य आडम्बर जीवन के लिए घातक है और इसके द्वारा हम अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते, अतएव हमें इस पथ पर न चलना चाहिए।

यदि किसी एक ऐसे व्यक्ति के सामने एक कुलटा और एक सती बैठा दी जाय—जो दोनों के विषय में जानकारी न रखता हो, पारखी न हो, अनभिज्ञ हो—तो वह निश्चय ही उस सती के अपेक्षा कुलटा को ही वरण करेगा। इसमें उसको दोष नहीं दिया जा सकता; बल्कि यह उसकी शिक्षा-दीक्षा और अनुभव का कुपरि-

णाम है। जीवन के लिए भले-बुरे एवं उचित-अनुचित की परिभाषा करनी पड़ेगी। केवल भावुकता के कारण किसी उपयोगी विषय को बुरा या अश्लील नहीं बनाया जा सकता। मनुष्य को अपने अंगों का ज्ञान रखना एवं उनके उपयोगों का विचार करना अत्यावश्यक है। प्रकृति ने यह अंग-विशेष किस लिए बनाया है, इसका क्या उपयोग है, इसकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए— इन बातों का ज्ञान हम ऋषियों एवं पूर्व मर्यादा-पुरुषों-द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। उनकी उपेक्षा करके मनुष्य कदापि सुखी नहीं हो सकता। प्रकृति ने जिस प्रकार मुख खाने-पीने एवं बोलने के लिए, जिह्वा रस-स्वाद के लिए, नाक सुगंध-दुर्गंध का परिज्ञान करने के लिए, आँखें देखने के लिए, कान सुनने के लिए और जीवन सुख-दुःख का अनुभव करने के लिए दिया है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष का गुप्ताङ्ग विषय-भोग एवं जीवन के अन्य उपयोगी कार्यों के लिए बनाया है। किन्तु मनुष्य को इस बात के ज्ञान की आवश्यकता है कि इनका किस प्रकार उपयोग कर हम अपने जीवन को सुखी बना सकते हैं—प्रकृति की इस देन का क्या रहस्य है? अस्तु। अब इसका विचार करना चहिए कि इस विषय की शिक्षा किस प्रकार मिल सकती है।

कुछ लोगों की यह धारणा हो सकती है कि प्रकृति ने जो चीज बनायी है, उसके उपयोग का प्रादुर्भाव स्वाभाविक है; किन्तु यह विशेष अंश तक भ्रम-मात्र ही कहा जा सकता है। जिस

समय बालक माता के गर्भ से बाहर होता है, उसी समय पहले-पहल उसके मुँह से 'अ' का उच्चारण होता है। इसके माने यह नहीं है कि उसके हृदय में स्वर का प्रादुर्भाव प्रकृतिदत्त नहीं है; किन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह बिना अध्ययन-अध्यापन के ही प्रकाण्ड विद्वान् हो जायगा। इसी प्रकार इन्द्रिय-सुख के विषय में भी समझना चाहिए। भारतवर्ष में प्राचीन काल से इस विषय की शिक्षा दी जाती थी। यहीं तक नहीं कि उस समय केवल युवकों को ही शिक्षा दी जाती रही हो; बल्कि युवक और युवती दोनों को काम-शिक्षा दी जाती थी। वात्स्यायन-काम-सूत्र में लिखा है कि युवती को अपने घर पर ही अपनी मौसी, बड़ी बहन, धाय अथवा उस विषय की कुशल दासी से काम-विषयक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, अथवा पति के घर पति के साथ रति-मन्दिर में ही काम-कला में दीक्षित होना चाहिए। किन्तु इसके माने यह न समझ लेना चाहिए कि उस समय व्यभिचार की मात्रा अधिक थी, और युवती स्त्रियों को भी प्रत्यक्ष दूसरे पुरुष के साथ रमण करके अनुभव प्राप्त करना पड़ता था। इसी दोष को दूर करने के लिए वात्स्यायन ने उपर्युक्त स्त्रियों से अथवा पति के द्वारा इस विषय की शिक्षा प्राप्त करने का आदेश दिया है। यही कारण था कि उस समय अनेक वीर रमणियाँ भारतवर्ष के गौरव का कारण थीं। आजकल-जैसा समय न था। आज जिसे विवाह के पहले गुलाब के फूल की भाँति गुलाबी

रँगवाला खिला देखते थे और वह प्रेम एवं प्रसन्नता का कारण थी, वही विवाह के साल-छः महीने बाद एकदम मुरझाई हुई, पाण्डुवर्ण की शोक और घृणा की प्रतिमूर्ति बन जाती है। क्यों— जननेन्द्रियाँ बहुत ही कोमल होती हैं, तनिक भी आघात-प्रतिघात से महान् अनिष्ट की संभावना है।

पतन की पराकाष्ठा का प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि आजकल जापान में यह कानून बना दिया गया है कि अमुक अवस्था के बाद यह आवश्यक है कि जापानी अपनी लड़की को वहाँ के वेश्यालय में दाखिल करा दे, और जिस समय वह पूर्ण रूप से कला में निपुण हो जाय, उस समय वह स्वतंत्र रूप से अपना विवाह कर सकती है। इसके माने यह नहीं है कि उन्हें इस विषय की पूर्ण शिक्षा दी जायगी और वे भविष्य में अधिकाधिक उन्नति कर सकेंगी। मैं इसका कट्टर शत्रु हूँ। इससे संस्कृति और व्यक्तित्व दोनों नष्ट हो जाते हैं। प्रत्येक स्थान की संस्कृति भिन्न होती है। सम्भव है, जापान इस विषय में अपना गौरव समझता हो; किन्तु भारतवर्ष के लिए सबसे उत्तम यही है कि प्राचीन नियमानुसार काम-शास्त्र की शिक्षा स्त्रियों-द्वारा ही मिलनी चाहिए।

आगे चलकर वात्स्यायन ऋषि कहते हैं—पुरुषों को सामंत कन्याओं एवं काम-कला-कुशल वेश्याओं से काम-शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय में नवयुवकों को वेश्याएँ ही काम-शास्त्र की शिक्षा दिया करती

थीं। पुरुषेन्द्रिय भी अत्यन्त कोमल है, उसके उपयोग की शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक नवयुवक का कर्तव्य है। यदि नवयुवकों को इस विषय की शिक्षा दी जाय, तो यह निश्चित है कि वे अनेक दुष्कर्मों से बचकर अपना जीवन सुखमय बना सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि अनेकानेक पुस्तकें इस विषय को लक्ष्य करके लिखी गयीं, किंतु किसी से भी लाभ न हुआ; बल्कि रोग बढ़ता ही गया। इस विषय का अधिकांश साहित्य तो इस समय इतने भ्रष्ट रूप में समाज के सामने है कि वह उससे सुधर नहीं सकता; बल्कि बिगड़ अवश्य सकता है। आज नवयुवक-समाज को यह बतलाने की आवश्यकता है कि अमुक कार्य से यह कुपरिणाम होता है, इसलिए यह कार्य न करना चाहिए। उसे समझाने के लिए बहुत सीधे-सादे ढंग की आवश्यकता है। चटपटी भाषा में कुछ कहना व्यर्थ है। उसका परिणाम महाभयंकर होता है। पुरुषेन्द्रिय, स्त्री के ही साथ संभोग करने के लिए प्रकृति ने बनाई है। वह सुकोमल है, इसलिए उसका उपयोग कोमलतर स्थान में ही करना चाहिए। स्त्री-जननेन्द्रिय में एक प्रकार का तरल पदार्थ होता है, जो पुरुषेन्द्रिय में किसी प्रकार की खराबी नहीं आने देता। इसीलिए परिपक्व वीर्य होने पर जो लोग इस ओर प्रवृत्त होते हैं, उनमें किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता। कामसूत्र के द्वितीय अधिकरण में इस पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। सुखी दाम्पत्य-जीवन के अभिलाषी व्यक्तियों के लिए यह अध्ययन और मनन की वस्तु है।

वात्स्यायन-कृत कामसूत्र में काम-संबंधी शिक्षा देने से पूर्व ब्रह्म-चर्य की शिक्षा देना अत्यावश्यक बताया है। उस विषय पर भी पूर्ण बुद्धिमत्ता से विचार किया गया है। सांसारिक जीवन में प्रवेश करने से पूर्व ब्रह्मचर्य का पालन अत्यावश्यक और नितांत उपयोगी है। यहीं तक नहीं; बल्कि ब्रह्मचर्य-पालन से क्या लाभ है और वह क्यों करना चाहिए—इस पर भी अच्छी तरह विचार किया गया है। ब्रह्मचर्य में जिस तरह आठ प्रकार के मैथुन वर्ज्य हैं; उसी प्रकार आचार्य ने शारीरिक और मानसिक दो प्रकार की काम-शिक्षा मानी है। ब्रह्मचर्य के लिए मानसिक काम-शिक्षा बहुत ही आवश्यक है। ब्रह्मचर्य में मानसिक मैथुन इसलिए निंद्य है कि उस अवस्था में वह संभोग करने से तो विवश है; किंतु स्मरणमात्र से शरीर का वीर्य खिंचकर अंडकोष में चला जाता है। जिस प्रकार दूध में घी और ईख में रस रहता है, उसी प्रकार रक्त में मिला हुआ शरीर में शुक्र रहता है। विषय की इच्छा-मात्र से धम-नियों में रक्त का संचार प्रबल वेग से होने लगता है, और रक्त से वीर्य-तत्त्व खिंचकर कोषों में आ जाता है। ऐसी ही दशा रहने से कुछ दिनों में स्वप्न-दोष आदि का विकार हो जाता है, अथवा भयंकर शुक्रश्मरी का कोप सहन करना पड़ता है। इसीलिए विद्यार्थी और ब्रह्मचारी आदि के लिए आठ प्रकार के मैथुन निंद्य और वर्ज्य कहे गए हैं।

अथवा, यों कह सकते हैं कि यौवन के सरस-सुहावने दिनों में

यौवन-जन्य प्रमाद की काई पर कोई भी अनभिज्ञ फिसल सकता है और इससे लँगड़ा एवं कुबड़ा बनकर जीवन व्यतीत करता है। उस काई को सुखाने के लिए वात्स्यायन-कृत कामसूत्र-सूर्य की प्रखर किरणों की ही आवश्यकता है। वह बतलाता है कि अयोनि-मैथुन, असवर्ण-संभोग और नाना प्रकार के मैथुन से क्या-क्या हानियाँ होती हैं, और वे क्यों निंद्य हैं। परदारा-संभोग को भी निंद्य कहा है; बल्कि पारिदारिक अध्याय के अंत में यह भी लिख दिया है कि ये सभी बातें इसलिए बतलायी गयी हैं कि लोग धूर्तों और लंपटों से अपनी रक्षा कर सकें। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उस समय यह प्रथा प्रचलित अवश्य थी। इसीलिए उन्होंने इसका उल्लेख करके लोगों को सचेत किया था। साथ ही वे पारदारिक संभोग को समाज के लिए नितांत घातक समझते थे। वास्तव में परदारा और असवर्ण-संभोग मानवसमाज के लिए महान् सांघातिक तथा व्यक्तित्व को नष्ट करने वाला है। इससे बढ़कर घृणित और घातक बात समाज के लिए दूसरी और हो ही क्या सकती है! सामाजिक बंधन का उल्लेख भी इसी अधिकरण में किया है।

परदारा-संभोग में प्राणहानि की संभावना स्वाभाविक और निश्चित है। इसीलिए कहा है—परदारा संभोग में जीव-हानि होती है। वास्तव में सभ्य समाज के लिए यह घृणा की वस्तु होनी चाहिए।

वेश्याओं और कुलटा स्त्रियों के सहवास का भी बड़ा ही

सुन्दर वर्णन है; केवल अंगरक्षा का परिज्ञान करके जीवन सुख-मय बनाने के लिए उन्होंने वेश्या का उल्लेख किया है। वेश्या और कुलटा के साथ संभोग करने की आज्ञा नहीं दी है। वेश्या और कुलटा-संभोग को मना करने के कई कारण मालूम होते हैं। प्रथम तो यह कि इस संभोग से धन की हानि होती है। दूसरे, स्वास्थ्य का नाश होता है। तीसरे, समाज में लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं, विश्वास नष्ट हो जाता है, भले आदमी किसी प्रकार भी विश्वास-पात्र नहीं मानते। चौथे, इन संभोगों से पत्नी का जीवन दुखमय और भार बन जाता है। दाम्पत्य-जीवन की लहलहाती हुई संपूर्ण आशाएँ, उमङ्गे और कल्पनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं तथा समाज और देश में मान-मर्यादा एकदम नष्ट हो जाती है।

स्त्री-चरित्र को सब ने दुर्भेद्य माना है। वास्तव में यह बात सच भी कही जा सकती है। इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस चक्र-व्यूह को छिन्न-भिन्न करने के लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय। वात्स्यायन ऋषि का कथन है कि अमुक-अमुक स्थान में इस प्रकार स्त्रियों का सतीत्व नष्ट होता है। इससे अपनी मर्यादा के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को उन स्थानों और कारणों से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपनी काम-लालसा किसी से प्रकट नहीं कर सकता। फिर भी यदि उसे किसी समय काम-वासना सताए, तो वह उसे शांत करने के लिए अप्राकृतिक उपायों

के सिवा और कुछ भी नहीं कर सकता। पर कामशास्त्र उसे इसकी पूर्ण शिक्षा देता है कि ऐसे समय वह किस प्रकार अपनी इच्छापूर्ति अपनी सहचरी के साथ संकेत द्वारा कर सकता है।

आज भारतवर्ष में रतिशास्त्र की अनभिज्ञता ने ही व्यभिचार को प्रश्रय दिया है। जब तक किसी का पेट भरा रहता है, वह कदापि अच्छी-से-अच्छी चीज खाने की इच्छा नहीं कर सकता। उस समय उसके लिए बड़ी-से-बड़ी स्वादिष्ट और दुर्लभ वस्तु भी तुच्छ है। जब भूख सताती है, तभी पेट भरने की चिंता उत्पन्न होती है। इसी प्रकार यदि दंपति काम-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर रति-कला में निपुण एवं दक्ष हो जायँ, तो आज इन सांसारिक व्यभिचारों का बात-की-बात में अंत हो जाय। रतिशास्त्र की अनभिज्ञता के कारण न तो स्त्री, पुरुष से तृप्त होती है, और न पुरुष, स्त्री से ही। फलस्वरूप दंपति को अपनी काम-वासना तृप्त करने के लिए व्यभिचार में रत होना पड़ता है। अंत में उन्हें कहीं भी तृप्ति नहीं मिलती और मृगतृष्णा बढ़ती ही जाती है। यहाँ पर कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं कि यदि काम-वासना तृप्त नहीं होती, तो फिर घर में परस्पर प्रेम क्यों होता है? यह सामाजिक बंधन है; हठात् उनका गला बाँध दिया जाता है। सामाजिक बंधन ऐसा कठोर होता है कि सहसा उससे कोई बगावत करने को तैयार नहीं होता। किसी-न-किसी प्रकार निभाना ही पड़ता है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि भार-

तीय दंपतियों का बहुमत इसी ओर होगा कि वे काम-संबंधी बातों में परस्पर संतुष्ट नहीं हैं, और रति के समय उन्हें किसी प्रकार का विशेष सुख नहीं मिलता। अस्तु। यह सुख तभी संभव है, जब दंपति परस्पर एक दूसरे के अंग विशेष से पूर्ण परिचित हों, काम-कला को भली भाँति समझते हों, तथा उस विषय में कुशल हों।

जिस प्रकार दुष्ट और कामी पुरुष पल में ही स्त्रियों का सतीत्व हर लेते हैं, उसी प्रकार कुलटा स्त्रियाँ अनेक साधु-प्रकृति पुरुषों का भी सर्वनाश कर देती हैं। इससे त्राण पाने के लिए कुछ लोग कहेंगे कि नीति, सदाचार और धर्मशास्त्र के शिक्षा की आवश्यकता है; किंतु नहीं। ये विषय सर्वसाधारण की रुचि के अनुकूल भी नहीं हैं, और सर्वसाधारण की बुद्धि इनके लिए दुर्भेद्य और अगम्य भी कही जा सकती है। हाँ, इस विषय की शिक्षा किसी ऐसे मनोरंजक ढंग से देनी चाहिए, जो सर्वसाधारण के लिए सुबोध और सुगम हो। ऐसी स्त्रियाँ और पुरुषों के लक्षण; हाव-भाव एवं कटाक्ष आदि का काम-सूत्र में विशद एवं रोचक ढंग से वर्णन है। साथ ही उसमें यह भी संकेत कर दिया है कि इस प्रकार के हाव-भाव एवं ऐसी परिस्थिति से मनुष्यमात्र को अपनी रक्षा करनी चाहिए।

जिस प्रकार कामशास्त्र की अनभिज्ञता के कारण व्यभिचार फैलता है, उसी प्रकार स्त्रियों की अज्ञानता से भी पुरुष, व्यभिचार में बाध्य होकर निरत हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि घरेलू

स्त्रियाँ पति को अपने रूप-लावण्य से प्रसन्न नहीं कर सकतीं। उन्हें इस बात का पता ही नहीं रहता कि किस प्रकार पति को बाह्य रूप से प्रसन्न करना चाहिए। अज्ञानी पति भी आभ्यंतर रूप को नहीं देखते, हृदय को नहीं पहचानते—यह नहीं समझते कि मैला हीरा भी कितना मूल्यवान् होता है, और कृत्रिम का क्या मूल्य है? बस, इस जरा-सी बात के लिए कलह का साम्राज्य खड़ा हो जाता है; सुख-वैभव नष्ट हो जाता है; दंपति-जीवन भार बन जाता है; सती के स्थान में कुलटा का आधिपत्य होता है; रत्न काँच के बीच में रक्खा जाता है। अतएव पत्नी का कर्त्तव्य है कि आभ्यंतर की तरह ही बाह्य को भी सुन्दर बनाए। कृत्रिम-अकृत्रिम जिन उपायों से भी संभव हो, पति को अपनी ओर हर समय आकृष्ट रक्खे। जरा भी उसे बिमन न होने दे, और न अपनी ओर से उसका ध्यान ही हटने दे। यदि स्त्री, पुरुष को अपनी ओर हर समय आकृष्ट रक्खे और काम-कला-निपुण हो, तो निश्चय ही व्यभिचार की मात्रा कम हो जाय। बल्कि यों कहना चाहिए कि कुछ समय बाद उसका अंत ही हो जाय। अतएव यह आवश्यक है कि प्रत्येक दंपति काम-कला के अच्छे जानकार हों। इसकी शिक्षा से नाना प्रकार के भयंकर एवं समाज-संहारक व्यभिचारों और अप्राकृतिक क्रियाओं-द्वारा वीर्यनाश का तो अंत, निश्चय ही शीघ्र संभव हो जाय। इसी की शिक्षा से अशांति के स्थान पर शांति का साम्राज्य संभव हो सकता है। व्यभिचार के स्थान पर सदाचार का आधिपत्य

होगा। दुःख की जगह सुख का सिंहासन रहेगा। रोग के स्थान पर नीरोगता होगी। दुर्बल संतानें सबल होंगी। अल्पायु प्राणी दीर्घ-जीवन प्राप्त करेंगे एवं दाम्पत्य-जीवन सुखमय बन जायगा।

गृहिणी का स्वास्थ्य

प्राचीन समय के धार्मिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों के देखने से मालूम होता है कि—उस समय महिलाओं की क्या दशा थी और इस समय क्या है। प्राचीन समय की महिलाएँ सुबोध, सुशीला, विदुषी, एवं आदर्श होती थीं। उन्हीं सब गुणों को देखकर एक ग्रामीण उक्ति उत्पन्न हुई थी—"बिन घरनी घर भूत का डेरा।" वास्तव में यह उक्ति बड़ी ही धार्मिक एवं सत्यता से सीमित थी। क्या इस समय वह नष्ट हो गई है? नहीं, है और अवश्य है; किन्तु जितनी है, वह नहीं के बराबर। यह एक प्रसिद्ध बात है कि जब कोई सभ्यता नष्ट होने लगती है तो धीरे-धीरे होती है; किंतु जिस समय वह अल्प मात्रा में रह जाती है, उस समय फिर उसे नष्ट होते देर नहीं लगती। आज भी जिस घर में पहले के ढंग की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ पड़ी हैं उस घर में शान्ति है, सुख है, प्रकाश है एवं स्वस्थता का साम्राज्य है।

यह क्यों? प्रचीन समय की स्त्रियाँ यहाँ तक जानती थीं कि किस प्रकार का भोजन-वस्त्र एवं रहन-सहन आदि हमारे परिवार को

सुखी और स्वस्थ रख सकता है। वे आजकल की ठसक वाली बबुआइनें न थीं; एम० ए०, बी० ए० न थीं; मिस अथवा मिसेज न थीं; अप-टू-डेट न थीं। वे थीं, मामूली पढ़ी-लिखी एवं दक्ष। जहाँ आज सहज-सहज-सी बालकों की बीमारी के लिए वैद्य और डाक्टरों की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ वे चुटकी बजाते काम कर लेती थीं। जिस काम को वे पैसे और धेले में अच्छा-से-अच्छा कर दिखाती थीं, वही आज आठ और सोलह में भी नहीं होता।

गर्भावस्था से लेकर जन्म लेने तक, और उसके बाद जब तक बालक स्वयं अपने स्वास्थ्य के मूल्य को न समझ लेता था, तब तक उसका पालन-पोषण वे भली-भाँति समझती और करती थीं। जहाँ आज बच्चा पैदा होते समय दाइयाँ बुलाई जाती हैं, वहाँ वे सब काम खुद ही कर लेती थीं। इन सब बातों का कोई विशेष कारण न था। जहाँ आज उन्हें एम० ए०, बी० ए० बनाने में सात-आठ वर्ष का समय व्यतीत किया जाता है, वहाँ वे केवल एक ही दो वर्षों में सम्पूर्ण गृहकार्य समझ लेती थीं। वास्तव में गृहिणी की शोभा उसके गुणों से होती है, ऊँची-ऊँची डिगिरियों से नहीं। यदि उन्हें किसी छोटी सीमा तक ही शिक्षा दी जाय तो क्या हानि है? जो अधिक शिक्षा के पक्षपाती हों, उन्हें चाहिए कि अन्य भाषाओं का थोड़ा ज्ञान कराकर गृहकार्य की उच्चकोटि की शिक्षा दें। अथवा उस उच्चकोटि की शिक्षा के साथ-ही-साथ गृहकार्य की भी शिक्षा देते रहें। जिससे भविष्य में उन्हें सच्चा दाम्पत्यसुख मिले।

प्राय: देखा जाता है कि जो बालिकाएँ कालेज की उच्च शिक्षाएँ प्राप्त करके निकलती हैं, वे अपने स्वास्थ्य का कोई मूल्य नहीं समझतीं। यहाँ तक कि पति के प्रति क्या व्यवहार करना चाहिए और बालक का पालन-पोषण किस तरह करना चाहिए, नहीं जानतीं।

संसार रंग-मंच है। इस पर आकर जो आपने-आपको नहीं भूलता तथा किसी का अनुकरण नहीं करता; वही मान और प्रतिष्ठा पाता है। इतिहास बतलाता है कि प्राचीन समय में आयुर्वेद का कितना महत्व था। वर्तमान दैशिक आन्दोलन को जिस प्रकार बड़े-छोटे सभी जानते हैं, उसी प्रकार उस समय सभी लोग आयुर्वेदगत स्वास्थ्य-रक्षा को भी जानते थे। वे लोग उसके महत्व को समझते थे। अतएव उसका आदर करते थे। क्या वह इस युग में सम्भव नहीं है? अवश्य है। तनिक दृष्टिपात करने से सहज ही समझ में आ सकता है। कई बार मैंने उन शिक्षित महिलाओं की औषधि की है, जो परम विदुषी कही जा सकती हैं। उन्हें यह भी नहीं मालूम था कि स्त्रियों को किस अवस्था में क्या होता है। सभी विषयों पर प्रकाश डालना तो एक ही लेख में असम्भव है। अस्तु। मैं इस लेख में केवल उनके जीवन-सम्बन्धी एक विषय पर लिखूँगा।

उष्ण-प्रधान देश होने के कारण यहाँ बारह-तेरह अथवा चौदह वर्ष में ही मासिक-धर्म होने लगता है; किन्तु उसकी परि-पुष्टि सोलह वर्ष में ही होती है। कभी-कभी ऐसा देखने में आया

है कि न जानने के कारण कुछ स्त्रियों ने रजोरोधक पदार्थों का सेवन किया। जिस से रज-स्राव बन्द हो गया। किन्तु वह अधिक दिन के लिए नहीं। पुनः कुछ दिनों के बाद होने लगा। उसका प्रभाव यह हुआ कि कुछ दिनों बाद उसमें इतनी विकृति हुई कि वह कभी भी ठीक न होने लगा। कभी कम, कभी अधिक। कभी दो दिनों में बन्द हो जाता, तो कभी सात-आठ दिनों तक जारी रहता। अन्त में परिमाण यह हुआ है कि वे अत्यन्त कृश, पीली, निस्तेज, पराक्रम-विहीन एवं अनेक व्याधियों से पीड़ित रहती थीं। इस दशावाली को सब से पहले हिस्टीरिया की बीमारी होती है और वह आजन्म के लिए नष्ट हो जाती है। साथ ही अपने पति और धन को भी नष्ट कर देती है।

आजकल हिस्टीरिया बहुत देखने में आती है। ऐसी स्त्रियों को गर्भ-स्थिति नहीं होती। यदि संयोग वश हो भी गई, तो असमय में ही स्राव या पात हो जाता है। कदाचित् बालक पैदा हो भी गया, तो असमय में ही वह मर जाता है और कभी-कभी तो माता को भी साथ ले चल देता है। ऐसी स्त्रियों का गर्भाशय एकदम विकृत हो जाता है और उन्हें बालक पैदा होते समय अत्यन्त वेदना होती है। कभी-कभी तो देख जाता है कि बालक की पैदाइश के समय में ही उनका प्राणान्त हो जाता है।

जो स्त्रियाँ खूब हृष्ट-पुष्ट होती हैं, उनको प्रायः महीने में अट्ठाइसवें दिन मासिक-धर्म हो जाता है। चार दिन तक बराबर

जारी रहता है। उसके बाद बन्द हो जाता है। ठीक समय के अतिरिक्त कम दिनों में होना रोग समझा जाता है। अतएव जिस स्त्री को कम दिनों में मासिक धर्म होता है, उसे रक्त की विकृति समझनी चाहिए। उसके लिए खाने को शुष्क पदार्थ देना चाहिए। गाय के दूध में हरी दूब पीसकर सुबह-शाम पिलाना चाहिए।

जो बहुत कृश होती हैं अथवा अधिक मेदस्विनी होने के कारण मोटी होती हैं, उनको देर में मासिक-धर्म होता है। कुछ लोग मेदस्विनी को हृष्ट-पुष्ट कहते हैं; परन्तु उनकी यह धारणा मिथ्या है। मेदस्विनियाँ देखने में तो मोटी मालूम होती हैं; किन्तु उनमें रक्त की कमी होती है। अतएव उनको मासिक-धर्म ठीक समय में नहीं होता, अर्थात् देर में होता है और जो दुबली हैं उनमें स्वाभाविक रक्त की कमी होती है। फिर भी रजोधर्म का समय व्यतीत हो जाने से नाना प्रकार की बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। अस्तु। उन्हें रक्त-वर्द्धक पदार्थों का सेवन कराना चाहिए। उनके लिए फल सब से उपयोगी है; किन्तु जो दुबली हैं उनसे विशेष परिश्रम न कराना चाहिए और जो स्थूल हैं उनको शुद्ध वायु में घुमाना चाहिए। इससे रक्त बढ़ता एवं समय पर मासिक-धर्म होने लग जाता है।

यदि किसी कारण वश मासिक-धर्म होकर बन्द हो गया हो अथवा साफ न होता हो, तो निम्नलिखित औषधियों का सेवन करना चाहिए।

(१) एक तोला काला तिल, एक तोला बड़ा गोखुरू और दो तोला मिश्री, आध सेर जल में पकाएँ; एक पाव बाकी रह जाने पर छान कर पी जायँ। गरम मिजाजवालियों के लिए उत्तम है।

(२) आध पाव कपास के फूल, दो तोले पुराना गुड़, एक सेर पानी में पकाएँ, जब एक पाव बाकी रह जाय; तब छान कर पी जायँ। थोड़ा गरम रहना चाहिए। शीतल प्रकृतिवालियों के लिए सर्वोत्तम है।

(३) यदि किसी भी उपाय से मासिक-धर्म न हो, तब एक सेर चूना के पानी में दो तोला काला तिल पकाएँ। एक पाव बाकी रह जानेपर छान कर थोड़ा गरम ही पी जायँ। सुबह-शाम दोनों समय। इससे अवश्यमेव रुका हुआ मासिक-धर्म होने लग जायगा।

यदि स्वास्थ्य का ध्यान रखकर इन सुलभ चुटकुलों से काम लिया जायगा, तो अवश्य ही लाभ होगा।

ललनाओं का भविष्य

इस नवयुग में—समाज, देश, राजा-प्रजा, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी के लिए भविष्य-चिन्तन अत्यावश्यक हो गया है। अब प्रश्न यह है कि क्या पहले किसी को भविष्य-चिन्तन की आवश्यकता न थी? नहीं—थी और अवश्य थी। किन्तु उस समय भविष्य-चिन्तन, रोग बनकर सर पर सवार नहीं रहता था।

लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार ऐसे थे, जो स्वयं ही भविष्य बतला देते थे। उस समय पति के प्रति पत्नी का और बालक के प्रति माता का एवं एक के प्रति दूसरे का क्या कर्तव्य है, इसे भलीभाँति लोग समझते थे।

भारत का प्रत्येक निवासी महाराणा प्रताप और वीर शिवाजी का नाम जानता होगा। इनमें कोई ईश्वरीय अनुभूति न थीं; बल्कि ये अपने माता-पिता के सदाचार की सजीव प्रतिमाएँ थीं। जिन्होंने वीर माता जीजीबाई का जीवन-चरित्र शिवाजी के जीवन-चरित्र में पढ़ा होगा, वे भली-भाँति समझ गए होंगे कि वह क्या थीं?

अब मुझे कुछ थोड़ा-सा अपनी आर्यललनाओं के विषय में कहना वांच्छनीय है। वे वीर माताएँ भी आर्य-स्त्रियाँ थीं। वह कोई दुर्गा या काली की सजीव प्रतिमाएँ न थीं। केवल एक सदाचार के बल पर इन वीर सन्तानों का प्रसव किया था, जो भारतीय इतिहास में प्रलय-काल तक अमर रहेंगे। कहाँ वह वीर माता और वीर सन्तान; कहाँ आज प्रदर-जैसे सर्वनाशकारी रोग से ग्रस्त माता और म्लानमुखी, हड्डी-पसलियाँ गिनी जाने वाली प्रमेही सन्तान!

किन्तु क्या किसी माता ने इस पर भी कभी विचार किया है? जरा-सा हाल का इतिहास उठा कर देखिये, पता लग जायगा कि वीर रमणी झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने किस वीरता के साथ अपने प्राण-विसर्जन किए थे। उन लोगों में जो अद्भुत साहस था,

वह स्वास्थ्य, संयम और सदाचार का ही फल था। किन्तु इस संयम और सदाचार का महत्त्व आजकल लोगों की समझ में उस समय आता है, जब सब खोकर वे अन्तिम अवस्था को पहुँचते हैं। प्राचीन काल में माता-पिता द्वारा बालक-बालिका के हृदय में सदाचार और संयम की ऐसी दृढ़ भावना अल्पावस्था में ही जमा दी जाती थी कि उनका भविष्य किसी प्रकार नहीं बिगड़ता था।

हमारे भारतीय समाज में विवाह का जो महान् आदर्श है, उसे लोग अच्छी तरह समझते थे। विवाह के समय कन्या और वर उन वेद-मंत्रों के भाव और गूढ़ार्थ को समझ कर एक के प्रति दूसरा प्रतिज्ञा-बद्ध होता था। आजकल के समान दोनों पक्षों के परिडतों का विवाह न होता था। हृदय-गत भाव ही मनुष्य के उत्थान-पतन का कारण होता है। सच्चा व्यक्ति प्रतिज्ञा करके अपने जीवन में उसे भूल नहीं सकता। जहाँ तक मेरा खयाल है, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अपनी प्रतिज्ञा का विशेष ध्यान रखती हैं। यदि उन्हें पहले ही से अच्छी शिक्षा दी गई हो।

प्राचीन समय में पूर्णावस्था में ही विवाह-संस्कार होता था और उसके बाद काम-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। उस समय सदाचार और संयम अपने ध्येय से लोगों को डिगने न देते थे। साथ ही काम-शास्त्र कार्याकार्य का ज्ञान बता देता था। लोग मूर्खता से बच जाते थे। उस समय पुत्रोत्पत्ति के लिए ही लोग रति-क्रिया में प्रवृत्त हुआ करते थे। आजकल के नव-सभ्य लोग

काम-शास्त्र के नाम को ही अश्लील समझते हैं; किन्तु उन्होंने कभी देखने का कष्ट न किया होगा कि इस विज्ञान से जीवन का क्या सम्बन्ध है। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि एक ग्रन्थ के आधार पर हजारों की संख्या में पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं; परंतु अभी कई शताब्दी तक उसका सहस्रांश लिखने वाला भी पैदा न न होगा! 'काम' सम्बन्धी एवं 'गृह तथा शरीर-रचना' सम्बन्धी शिक्षा न मिलने का ही यह फल है कि मासिक-धर्म की खराबी, गर्भाशय का टेढ़ा होना, पेट की नसों की विकृति आदि से भयंकर रोग पैदा हो जाते हैं। येही सब मिलकर प्रदर, रक्तगुल्म, वातगुल्म और उदर-शूल आदि स्थायी व्याधियों का शिकार बनाते हैं। आजकल जिस अधिक संख्या में नवयुवतियाँ यक्ष्मा का शिकार होती हैं, शायद अन्य नहीं। सारी उमंगें, आशाएँ और दिल के अरमान लेकर असमय में ही संसार से विदा हो जाती हैं। इस यक्ष्मा का कारण प्रदर है और प्रदर का कारण आजकल का बाल-विवाह और विलासिता है।

यदि देश-सुधार के साथ-साथ समाज-सुधार न होगा, तो वास्तविक सुख मिलना नितान्त असम्भव है। साथ ही निकट भविष्य में जिस पतन का अनुभव होगा, वह अकथनीय है। स्त्रियाँ सचमुच अपने को 'अबला' समझती हैं; किन्तु यह धारणा उसी समय दूर हो सकती है—जब माता, पुत्री को; सास, बहू को; सदाचारिणी बनाकर नवशक्ति का संचार करे और विलासिनी के बदले

वीर-रमणी बनाने का जी-तोड़ उद्योग करे। अन्यथा हमारी ललनाओं का भविष्य अन्धकार के गर्त में है। रोग असाध्य हो जायगा, फिर दवा क्या करेगी?

सामाजिक कुरीतियाँ

यों तो सामाजिक कुरीतियाँ संसार के सभी समाजों में हैं; किन्तु भारतवर्ष में जैसी अक्षम्य त्रुटियाँ वर्तमान हैं, वैसी शायद ही किसी समाज अथवा राष्ट्र में हों। भारत-जैसे पुण्य-पावन स्थान में ऐसे-ऐसे अत्याचार हों, क्या यह कम आश्चर्य की बात है? आज तक जितने भी राष्ट्रों का सर्वनाश हुआ है, उन सबों में सामाजिक कुरीतियों का ही दोप था। ये कुरीतियाँ बहुत आसानी से दूर की जा सकती हैं; किन्तु उनके दूर करने के जो साधन हैं, वह प्रायः साध्य और कष्ट-साध्य दोनों ही हैं। साध्य और कष्ट-साध्य का एक साथ ही नाम सुन कर लोग बड़े घबराएँगे; परन्तु नहीं, वह बहुत आसानी से समझ में आ सकती है। वह यह है कि यदि कोई अपने को अग्रसर करने में जरा भी न हिचके, तो साध्य है; लेकिन यही एक बात है कि आगे नाम लिखाने को कोई तैयार नहीं होता। इसलिए कष्ट-साध्य है।

इनके अतिरिक्त एक कारण और है। भारतवर्ष में आवश्यकता से अधिक ढोंगी और छद्मवेपी हो गए हैं। वे हर समय

अपने पंजे में भोली-भाली जनता को फँसा कर अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। बहुत-से लोग तो जान-बूझकर भी बदनामी के डर से सुधार की ओर नहीं जाते; क्योंकि स्वभावतः आजकल लोग सुधारकों को ढोंगी और पेट्र के नाम से पुकारने लग गए हैं। किन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है। जरा-सा अपने को दृढ़ कर-लेने से सब काम बन सकते हैं, और दिन-दिन जो समाज रसातल को चला जा रहा है, वह बच जायगा। आजकल लोग सुधारकों को ढोंगी और पेट्र के नाम से इसलिए पुकारते हैं कि वे ही निकट भविष्य में सुधार हो जाने पर महापुरुषों के नाम से पुकारे जाने लगेंगे। याद रहे, कुछ दिनों तक ये संस्कार भारतवर्ष से न हटाए गये, तो एक दिन वह आएगा, जब यह देश स्वतंत्र होकर भी कुरीतियों की बेड़ियों से जकड़ा हुआ सदैव के लिए नष्ट हो जायगा; और आज जो समस्त संसार के राष्ट्रों का दीपक कहा जाता है; वह सदा के लिए बुझ जायगा।

मनुष्य सर्वप्रथम इस रंग-मंच पर बाल-रूप में अवतरित होता है। वहीं से जीवन-संस्कृति की नींव पड़ती है, और माता-पिता उसके जीवन-सम्बन्धी उत्तरदायित्व के भागी हो जाते हैं। आधुनिक समय में एम० ए०, बी० ए० और शास्त्री-आचार्यों की कमी नहीं है; परन्तु शिशु-पालन सम्बन्धी विषय का उनको जरा भी ज्ञान नहीं होता। यही कारण है कि वह अपनी जिम्मेदारियों को नहीं समझते और अबोध समझ कर उनके सामने ही कुचेष्टाएँ

करने लगते हैं। बाल्यावस्था में ही बालकों के संस्कारों का निर्माण होता है। उस समय वे जैसी दुर्वृत्ति अथवा सुवृत्ति में पड़ेंगे, वैसा ही उनका जीवन व्यतीत होगा। उदाहरणार्थ—आप स्वयं विचार कर सकते हैं—जिस समय आप पुस्तक लेकर पढ़ने बैठते हैं—वह भी कुछ-न-कुछ पंक्तियों पर उँगली रखकर कहने की चेष्टा करने लगता है। अतएव यह स्पष्ट हो गया कि बालकों में अनुकरण-शक्ति प्रकृति-दत्त होती है। अतएव उसके सामने जो कार्य अच्छा अथवा बुरा किया जायगा, उसे वह उसी समय से कर दिखाने की चेष्टा करने लगेगा और तनिक-सा समर्थ हो जाने पर कर भी दिखाएगा। इसलिए माता-पिता को उचित है कि उसके समक्ष वही कार्य करें, जिससे उसकी मेधा सुपथ पर लगे।

प्रायः बड़े-बड़े घरों में तो बड़ा ही अनाचार होता है। माता का दूध न पिला कर पति देवता उसे सुरक्षित और तरो-ताजा रखने के लिए उस अबोध बालक का पालन-पोषण एक निम्न जाति की धाय के हाथों में सौंप देते हैं। प्राचीन समय के ग्रन्थों में भी धाय का विवरण मिलता है; परन्तु वहाँ पर धाय का उपयोग उसी समय किया जाता था, जब माँ का दूध खराब होता था, अथवा होता ही न था। वह समय विलासी न था। लोगों को अपने हित और अहित का बड़ा ध्यान रहता था। बच्चों के अभिभावकों को उचित है कि यदि धाय की ही आवश्यकता हो, तो अपने समान कुलवाली, नीरोग, बालकों की जननी, अल्पवयस्का, शान्ति-स्वरूपा,

सुहृदया एवं शीलवती धाय ही नियुक्त करें। फिर भी दसवें-पन्द्रहवें दिन किसी योग्य चिकित्सक को दिखाकर उसके स्वास्थ्य की जाँच कराते रहें।

साथ ही छिपकर इसकी भी जाँच करते रहना उचित है कि क्या वह बालक से यथेष्ट प्रेम करती है? यदि नहीं तो उसे तुरत हटा देना चाहिए। अन्यथा बच्चे के कोमल हृदय पर बहुत ही भयंकर प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो देखा गया है कि निठुर व्यवहार होने के कारण बालकों का प्राणान्त भी हो गया है। अपने बालकों को भूलकर भी किसी रोगी, दुष्ट, नीच अथवा नीच प्रकृति वाली धाय के हाथों में न देना चाहिए।

ऐसा कौन होगा जिसके हृदय में अपनी सन्तान के प्रति प्रेम न हो। किन्तु अज्ञानता से अथवा प्रेम वश वे लोग पैदा होते ही दो-चार दिनों के बाद अनेक प्रकार के सोने और चाँदी के आभूषणों से अलंकृत कर देते हैं। नहीं, अलंकृत नहीं; बल्कि उनका गला घोंटने को तैयार हो जाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश बालक इन्हीं गहनों के कारण रोग-ग्रस्त होकर कभी-कभी चल भी बसते हैं। कम-से-कम एक वर्ष के बालक को कभी भी सोने अथवा चाँदी के गहने नहीं पहनाने चाहिएँ। साल भर के बाद भी पहनाना नैतिक दृष्टि से खराब है; क्योंकि प्रायः साल भर के बाद लड़के घूमने-फिरने लग जाते हैं। उस समय यदि वह घर से बाहर कहीं अकेला निकल जाय, तो हानि होती है और बदमाश

उसे उठा ले जाते हैं। ऐसे-ऐसे समाचार प्रायः समाचार-पत्रों में पढ़ने में आया करते हैं। किसी-किसी घर में पुरुष तो इस कार्य के लिए अग्रसर हो जाते हैं; परन्तु औरतें नहीं मानतीं और जबरदस्ती गहने पहनाती हैं। यह उनका दोष नहीं है; बल्कि उनकी अशिक्षा का दोष है।

कई बालक हो जाने पर प्रायः माता-पिता उनके पालन-पोषण की ओर से बिलकुल उदासीन हो जाते हैं। उस समय वे यह नहीं समझते कि भविष्य में इसका क्या परिणाम होगा। एक ही दो सन्तान से वे लोग उस ओर से उदासीन होकर अपने-अपने आराम में लग जाते हैं। फल-स्वरूप उनका भविष्य बहुत ही बिगड़ जाता है। वह समय ऐसा होता है कि बालक की प्रवृत्ति जिस ओर लग जायगी, वह उसी ओर चला जाता है। अस्तु। उस छोटी अवस्था में बालकों का पालन-पोषण बड़े ध्यान से करना चाहिए।

छोटी अवस्था वाले बालकों के साथ पहले मनोरंजन ही शुरू होता है। माता-पिता एवं सब कुटुम्ब के लोग उसे अपने हँसाने की मशीन समझते हैं, और उसी तरह उसे खेलाते भी हैं। प्रायः खेलने की सभी चीजें हास्य एवं कुरुचि-पूर्ण होती हैं। यदि उस समय उसे ऐसे भद्दे खिलौने न देकर महात्माओं के चित्र एवं काठ के खिलौने पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी के अक्षर लिख कर दिए जायँ, तो उसके मस्तिष्क में वैसी ही धारणा पैदा हो जाय। उस समय उसका मस्तिष्क बड़ा ही शुद्ध एवं कोमल होता है।

अतएव अच्छी और बुरी दोनों ही धारणाएँ सहज जमाई जा सकती हैं। उसे छोटी अवस्था में ही कोई सचित्र बालोपयोगी मासिक पत्र देना चाहिये, जिससे उसकी धारणा उसी ओर जम जाय। ऐसा होने से वह बहुत शीघ्र विद्याभ्यास कर लेता है।

जिस समय बालक थोड़ा पढ़ लेता है, अर्थात् किसी भी विद्या का थोड़ा-थोड़ा अभ्यास कर लेता है, उस समय माता-पिता की जिम्मेदारी आधी हो जाती है। धीरे-धीरे बालक अपने जीवन का जिम्मेदार हो जाता है। आजकल की शिक्षा-प्रणाली अत्यधिक दूषित है। दस-बारह वर्ष पढ़ने पर भी किसी विषय की सीमा को वह देख नहीं सकता। पद-पद पर यही कहा करता है—अमुक आचार्य ऐसा कहते हैं; अमुक गोरे साहब यह कहते हैं। परन्तु किसी भी बात को वह यह नहीं कह सकता कि अमुक विचार मेरा स्वतंत्र का है। अधिक मात्रा में इधर-उधर का विषय न पढ़ाया जाय; बल्कि एक ही विषय लेकर कम-से-कम उनको अच्छा ज्ञान प्राप्त करा दिया जाय, तो अधिक उपयोगी हो। किसी विषय पर वे अपना स्वतंत्र विचार तो बना सकें। अन्यथा वही रात को बारह-बारह बजे तक बिजली अथवा मिट्टी के तेल की रोशनी के सामने रटा करते हैं। सदैव गोरे साहबों के ही अनुयाई बने रहते हैं। यही एक कारण है कि वे लोग स्वतंत्रता के मूल्य को नहीं समझ रहे हैं। मेरा मतलब यह नहीं है कि संस्कृत, अँग्रेजी, उर्दू, बँगला आदि कौन-सी भाषा अच्छी है, अथवा बुरी।

शिक्षा-पद्धति के साथ-ही-साथ उनकी जीवनचर्या एवं दिन-चर्या दोनों ही खराब हैं। जो संस्कृत के विद्यार्थी हैं, वे ऐसे गंदे तरीके से रहते हैं कि स्वाभाविक-ही उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो जाता है, और जो अंग्रेजी के विद्यार्थी हैं, वे इतने लापरवाह हैं कि उन्हें अपने स्वास्थ्य एवं शरीर का कुछ भी ध्यान नहीं रहता खान-पान, रहन-सहन सभी बातें बेतरीके होती हैं। अतएव उन्हें कम-से-कम पढ़ाई के साथ-साथ जीवन सम्बन्धी भी कुछ शिक्षाएँ दे दी जाया करें, तो हानि न होगी। बल्कि यों कहिए कि उनका जीवन सुखमय बन जायगा। उसी अनियमित जीवन का प्रभाव होता है कि तरह-तरह के कष्टदायक रोग पैदा हो जाते हैं। आजकल अधिकतर विद्यार्थियों को ही प्रमेह, राजयक्ष्मा और अर्श-जैसी भयंकर व्याधियाँ होती हैं। शिक्षित हो जाने पर माता-पिता का उत्तरदायित्व एकदम नहीं रह जाता। उस समय से वे अपने जीवन के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं।

अधूरी शिक्षा होते हुए जिस समय माता-पिता उनके उत्थान और पतन के पूरे जिम्मेदार रहते हैं, एकाएक जान-बूझकर उनका गला घोट देते हैं। छोटी अवस्था में कितना भयंकर परिणाम विवाह का होता है, यह प्रायः स्पष्ट है। किन्तु तब भी मैं उसे अत्य-धिक स्पष्ट किए देता हूँ। थोड़ी उम्र का विवाह दोनों के नाश का घातक साधन है। सोलह वर्ष से पूर्व स्त्री का और पचीस वर्ष से पूर्व, पुरुष का सहवास कदापि न होना चाहिए। उस समय यदि

सहवास किया जायगा, तो सन्तान अत्यन्त दुर्बल, अल्पायु एवं रोगी पैदा होगी। कुछ दिनों के बाद उन दोनों की आयु का भी ह्रास होने लगेगा। अस्तु। विवाह ऐसे समय में किया जाय, जब लड़का-लड़की दोनों काफी मजबूत हो चुके हों। बाल्यकाल के विवाह से शरीर और मस्तिष्क दोनों ही का सर्वनाश हो जाता है। इससे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों भारस्वरूप जान पड़ते हैं, और जिस दुःख का अनुभव वे दोनों करते हैं, वह बड़ा ही भयंकर होता है। आजकल पचास प्रतिशत प्रमेह, प्रदर आदि भयंकर व्याधियाँ इसी कारण पैदा होती हैं और असमय में ही वे काल-कवलित हो जाते हैं।

स्त्रियों के लिए सब से घातक परदा प्रथा है। परदा के कारण बेचारी न तो खुलकर बात कर सकतीं हैं, न इधर-उधर घूम सकती हैं, न स्वच्छ वायु-ही पा सकतीं हैं। धन्य है भारतवर्ष! पुरुषों के लिए इतनी स्वतंत्रता और स्त्रियों के लिए इतनी परतंत्रता! क्या विधाता ने पुरुषों को अपने हाथ से और स्त्रियों को ठीके में बनवाया है? यदि उसने ऐसा किया भी हो, तो मनुष्य को क्या अधिकार है कि वह ईश्वर के कार्य में हस्तक्षेप करे! स्त्री-पुरुष या बाल-वृद्ध सभी उस परमात्मा के बच्चे हैं। फिर किसी को इतनी स्वतंत्रता और किसी को इतनी परतंत्रता क्यों? इतिहास से इस घातक प्रथा की कभी भी पुष्टि नहीं होती। आयुर्वेद के मतानुसार स्वास्थ्य के लिए शुद्ध हवा और जल की बड़ी आवश्यकता है। जल बिना मनुष्य जी सकता है; परन्तु हवा बिना पलमात्र भी

जीना असम्भव है। फिर जरा उन बेचारियों के ऊपर सिंहाव-लोकन कीजिए, जो दोनों समय चूल्हे के सामने बारहों महीने आग से तप्त होती हैं और दिनभर मोटे अथवा महीन कपड़े से बदन को ढाँके रहती हैं। कहीं कोई अँग न दिखाई पड़े; कहीं कोई मुँह न देख ले। फिर उनका स्वास्थ्य कैसा रहता होगा! यदि उन्हें चौबीस घंटे में एक घंटा भी शुद्ध हवा मिल जाय, तो उनका जीवन कितना सुखमय व्यतीत होने लगे। यही एकमात्र कारण है कि आज नब्बे प्रतिशत स्त्रियाँ ही—प्रदर, राजयक्ष्मा, जीर्ण-ज्वर एवं रक्तगुल्म का शिकार हो रही हैं। जब तक इस प्रथा का अन्त न होगा, तबतक किसी तरह भी भारत का उद्धार एवं स्त्रियों का जीवन सुखमय नहीं हो सकता।

आयुर्वेद

ब्रह्मा स्मृत्वायुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत्।
सदक्षौ तौ सहस्राक्षं सोत्रिजं समुपादिशत्॥

अर्थात् ब्रह्मा ने आयुर्वेद को मन से उत्पन्न कर दक्ष प्रजापति को पढ़ाया। दक्ष ने अश्विनीकुमारों को, उन्होंने इन्द्र को और इन्द्र ने आत्रेय मुनि को आयुर्वेद पढ़ाया।

इस प्रकार आयुर्वेद ब्रह्मा-द्वारा प्रणीत माना जाता है। आयु-र्वेद की उत्पत्ति की प्रामाणिकता इस प्रकार सिद्ध होती है कि

एक वार आयुर्वेद के केवल एक ही विद्वान् (आत्रेय मुनि) रह गए थे। उन्होंने संहिता वनाई। आज तक आत्रेय मुनि के नाम से आत्रेय संहिता वर्त्तमान है। यह वैद्यकशास्त्र का प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। आत्रेय मुनि के वाद ही और ऋषि हुए हैं। उन ऋषियों के नामानुसार ही उनकी वनाई संहिताओं के नाम भी हैं। भेड़, जातुकर्ण, पाराशर, क्षारपाणि और हारीत नामक अत्यन्त प्राचीन ऋषि हैं। इन्हीं नामों से इनकी संहिताएँ भी प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थों में मानी जाती हैं।

वेद और आयुर्वेद का क्या सम्वन्ध है ? उसके कौन-कौन-से अँग वेदों से मिलते हैं ? इनके विषय में डाक्टर गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी वी० ए०, एम० डी० का मत विशेष माननीय है। उन्होंने अपनी "हिन्दुओं का चिकित्सा-शास्त्र" नामक पुस्तक में लिखा है—"शरीर-शास्त्र और शस्त्र-चिकित्सा की उत्पत्ति वास्तव में सामवेद से हुई है। पर कायिक चिकित्सा का उत्पत्ति-स्थान अथर्ववेद है। अथर्ववेद में "आयुष्यानि" और "भैषज्यानि" आदि कई मंत्र इस विषय के हैं। वैदिक साहित्य में शारीरिक और शस्त्र-चिकित्सा-सम्वन्धी वातों का वर्णन कई जगह है। जान पड़ता है, यज्ञों में मारे गए पशुओं के अँग-प्रत्यँगों के नाम से ही आयुर्वेदीय शरीर-शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। वैदिक काल से लेकर सुश्रुत के समय तक शल्य-चिकित्सा की अच्छी उन्नति हुई थी।"

इतिहासानुसार भी अथर्ववेद का समकालीन सुश्रुत है। किन्तु

डाक्टर मुकर्जी का मत है कि—समकालीन होनेपर भी सुश्रुत की रचना अथर्ववेद के वाद हुई है। इन्होंने केवल शल्य-शास्त्र की ही विवेचना की है; परन्तु इससे कायिक-चिकित्सा का तात्पर्य भी निकल जाता है। प्राचीन समय में सर्जरी विभाग अलग नहीं था। उस समय वैद्य ही चीर-फाड़ का काम करते थे। उस सयय भी चिकित्सा तीन प्रकार से की जाती थी—

आसुरी मानवी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता।
शस्त्रैः कषायैर्होमाद्यैः क्रमेणान्त्या सु पूजिता॥

उस समय के लोग शस्त्र-चिकित्सा को आसुरी, कषाय अथवा अन्य औषध-चिकित्सा को मांनवी और हवन, दान, तप आदि क्रियाओं द्वारा की गई चिकित्सा को दैवी चिकित्सा मानते थे।

उस युग में दैवी चिकित्सा का बड़ा मान था। इस चिकित्सा-द्वारा भी लोग अच्छे होते थे। आयुर्वेद शास्त्र में ग्रहों का फेर भी माना गया है। उनकी शान्वि के लिए दैवी चिकित्सा ही उपयुक्त कही गई है। जिस समय इस पद्य की रचना हुई थी, उस समय भारतीय शल्य-चिकित्सा अत्यधिक उन्नतावस्था में थी। आजकल से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा जमाना, उसके लिए, वही था। इस वैदिक चिकित्सा के ही चोर, हकीम और पाश्चात्य चिकित्सक आज गर्व से फूले नहीं समाते। प्रजा के सभी कर्म राज्याश्रित होते हैं। आजकल जैसी दशा भी उस समय न थी। वह प्रजा के घोर संकट का समय था, जब मुसलमानों ने भारत पर अधिकार जमाया था।

मुगल-साम्राज्य के उदित होनेपर उन लोगों ने हमारे शास्त्रों का अध्ययन कर यूनानी-चिकित्सा-प्रणाली निकाली। उस साम्राज्य का अन्त होने पर अँग्रेजों ने अँग्रेजी में उसका अनुवाद कराया और इधर-उधर थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर एलोपैथी आदि चिकित्सा-प्रणालियों का जन्म दिया। बस, यहीं से प्राचीन शस्त्र-चिकित्सा एकदम लुप्त हुई और उन्होंने इसका नवीन ढंग से प्रचार कर दूसरे की सम्पत्ति को अपनी घोषित कर दिया।

आज रोग-सम्बन्धी जिन आविष्कारों पर अर्वाचीन वैज्ञानिक-जगत् गर्व से फूला नहीं समाता, वे सभी आविष्कार आज के नहीं, वैदिक-काल के हैं। उसी समय यह तय हो चुका था कि रोगों के कीटाणु होते हैं। कई रोगों के विषय में वेदों और नवीन आविष्कारों की समता देखने से साफ मालूम पड़ता है कि वैदिक युग से यह वैज्ञानिक युग उन्नतावस्था में नहीं है। वे आविष्कारक बहुत ही चढ़े-बढ़े थे। आज जिस अणुवीक्षण यंत्र-द्वारा सभी वस्तुओं में कीटाणु देखे जाते हैं, उसके विषय में अथर्ववेद कहता है—

ओते मेघा पृथिवी ओता देवी सरस्वती।
ओतौमइन्द्रश्चाग्निश्च क्रमिं जम्भयतामिति॥

पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि और जल सभी में कीटाणुओं का राज्य है।

बहुत-से रोगों को संक्रामक रोग कहा जाता है। अर्थात्, छूत के रोग; एक से दूसरे को हो जानेवाले। यदि एक रोगी को संक्रामक

व्याधि है, तो वह दूसरे को क्यों हो जाती है ? इसके माने यह है कि संक्रामक रोग कीटाणु-जन्य होते हैं। वे कीटाणु रोगी के शरीर से अलग होकर दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। इसीलिए ऐसे रोगी के पास इस प्रकार बैठना चाहिए, जिसमें उसके कपड़े, चारपाई, माला आदि से संसर्ग न हो। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि रोगी का श्वास अपने किसी अंग में न लगे। उन्हीं कीटाणुओं के लिए रोगी के पास गूगुल, लोबान और हवन आदि की विधि वेदों में पाई जाती है। आज जहाँ गृहस्थी का सामान जला एवं घर धोकर रोगमुक्त होने की चेष्टा की जाती है, वहाँ प्राचीन समय में इन्हीं गूगुल आदि से काम लिया जाता था। खासकर गूगुल के धुएँ में यक्ष्मा के कीटाणुओं को नष्ट करने की एक विशेष शक्ति है। इसका धुआँ लगते ही वे कीटाणु मर जाते हैं। अथर्ववेद कहता है—

न तं यक्ष्मा अवरुन्धते नैनं शपथोमश्नुते।
यं भेषजस्य गुग्गुलो सुरभिर्गन्धमश्नुते॥
विश्वञ्चस्तस्मात् यक्ष्मा मृगा अश्व इवे रते।

गूगुल के धुएँ से न यक्ष्मा सताता है, न शाप का ही भय रहता है। इसकी सुगन्ध से किसी प्रकार के मंत्र आदि का भी भय नहीं रहता। सब तरह के कीटाणु, इसकी गन्ध से, मृग के समान भागते हैं।

इसी के भाव से मिलता-जुलता श्लोक आयुर्वेद में भी है। किन्तु

वह प्राचीन नहीं है। "कृमिपातभयाचापि धूपयेत् सरलादिभिः।" यहाँ पर सरला शब्द से गूगुल लेना चाहिए। कृमि और भयादिक में गूगुल की धूप देनी चाहिए।

यक्ष्मा के विषय में प्राचीन और अर्वाचीन, दोनों ही मत कीटाणुओं के समर्थक हैं। उसके विषय में अथर्ववेद का मंत्र है—

यः पार्श्वे उपर्पत्यनुः निद्गृन्ति पृष्टीः।
अहिंसन्तीरनामया निद्रवन्तु वहिर्वलात् ॥

इस मंत्र का तात्पर्य है कि दोनों ओर के फेफड़ों और पसलियों में धँसे हुए कीटाणु अपना स्थान छोड़कर बाहर निकलें एवं रोगी को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाएँ।

इससे साफ मालूम पड़ता है कि उस समय औषध के बिना ही, केवल मंत्र के सहारे, रोगों के कीटाणु निकाल कर रोगी नीरोग किया जाता था। आज जिस मलेरिया के विषय में आधुनिक डाक्टरों का मत है कि मच्छड़ों के काटने से यह ज्वर होता है, उसके विषय में अथर्ववेद का मत है—

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः।
साविन्हुतस्य भेपज्यथो मशकजम्भनी ॥

भावार्थ यह है कि इन ज्वर के कीटाणुओं, मशकों की औषधि मशक-जम्भनी है। वेद में सौंफ को मशक-जम्भनी कहते हैं। मलेरिया ज्वर में सचमुच सौंफ से बड़ा लाभ होता है। यदि इस ज्वर में आदि से अन्त तक केवल सौंफ का ही व्यवहार किया जाय, तो

अन्य औषधों के बिना ही मनुष्य इस ज्वर से मुक्त हो सकता है। मच्छड़ों को सौंफ से बड़ी घृणा है। जहाँ वे अधिक हों, वहाँ सौंफ का पेड़ गमलों में लगाकर रख दिया जाय अथवा केवल सौंफ ही इधर-उधर रख दी जाय, तो मच्छड़ वहाँ से भाग जायँगे इसलिए मलेरिया ज्वर वाले के पास सौंफ का पेड़ अथवा सौंफ अवश्य रखनी चाहिए। बरसात में सौंफ का सेवन लाभदायक है। इसके सेवन से वर्षा-जन्य कीटाणुओं का भय नहीं रहता। साथ ही सभी दोष शान्त रहते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों एवं प्रमाणों-द्वारा मालूम हो जाता है कि आयुर्वेद वेद के अन्तर्गत ही है। बल्कि यों कहना चाहिए कि साम और अथर्ववेद से ही आयुर्वेद की उत्पत्ति हुई है।

स्त्री-रोग

आजकल भारतवर्ष में जिस प्रकार स्त्रियों की मृत्यु हो रही है, उसे देखते हुए मुझे इसके दो कारण मालूम होते हैं—एक तो बाल-विवाह, दूसरे परदा-प्रथा। सात-आठ वर्ष की बालिका का विवाह तो कदापि न होना चाहिए। इससे हानि के सिवा लाभ अणुमात्र का भी नहीं है। कम-से-कम मनुष्य को अपने भविष्य का भी कुछ खयाल करना चाहिए। एकदम हठधर्म्मी के पीछे अपनी सन्तान का गला न घोटना चाहिए। बाल-विवाह से अधिक हानि इस

कारण होती है कि वे लोग छोटी अवस्था से ही विषय-वासना में लिप्त हो जाते हैं। जहाँ आयुर्वेद में सोलह वर्ष के बाद रज की पुष्टि होती है, वहाँ आज सोलह वर्ष की अवस्था तक दो-तीन बच्चे हो जाते हैं। अब यदि उन स्त्रियों को प्रदर, राज-यक्ष्मा, श्वास, हिस्टीरिया और ऋतु-धर्म्म की खराबी हो जाय, तो क्या आश्चर्य है ?

इसके अतिरिक्त अब परदा प्रथा पर थोड़ा ध्यान देना चाहिए। पुरुष जो हर प्रकार से स्वतन्त्र हैं, और सभी जगह घूम-फिर सकते हैं, वे तो रोज बीमार ही बने रहते हैं; और स्त्रियाँ बेचारी जो हर समय एक कोठरी में बन्द रहती हैं, वे भला कैसे स्वस्थ रह सकती हैं ! मैं स्त्रियों की ऐसी स्वतन्त्रता भी नहीं चाहता कि उनको एक दम अप-टू-डेट बना दिया जाय; बल्कि उनको इतनी स्वतन्त्रता दी जाय जिसमें वे थोड़ी स्वच्छ वायु का सेवन कर सकें। घर की बड़ी-बूढ़ियों को छोड़कर नव विवाहिता वधू को जिस परतन्त्रता का अनुभव करना पड़ता है, वह वर्णनातीत है।

प्रायः मुझे देखने का अवसर प्राप्त होता रहता है और अधिक संख्या में मैंने छोटी अवस्था की ही स्त्रियों को रोग का शिकार होते देखा और देख रहा हूँ। कलकत्ते-जैसे शहर में जहाँ पर एक-एक घर में सैकड़ों आदमी चिड़ियों की तरह कसे रहते हैं, वहाँ पर गरमी के दिनों में, उन परदा करनेवाली स्त्रियों की क्या दशा होती होगी, इसका अन्दाजा सहज ही नहीं लगाया जा सकता। दूर न जाकर स्वयं अपने घर का विचार कीजिए, जो कि छोटी

स्थिति के मनुष्य हैं, जिन्हें अधिक जगह नहीं मिल सकती और छोटी-छोटी दो-ही-तीन कोठरियों में काम चलाते हैं; जरा गरमी के दिनों में उनकी दशा पर विचार कीजिए जो परदे नशीन औरतें हैं, वे बाहर तो निकल नहीं सकतीं, उन्हीं कोठरियों में बन्द रहेंगी, साथ-ही-साथ रोटी पकाने के लिए चूल्हे के सामने भी घण्टे-दो-घण्टे व्यतीत करके यदि उन्हें स्वच्छ वायु न मिलेगी तो उनकी क्या दशा होगी ! वे रोगी रहेंगी या नीरोग ! अगर स्वास्थ्य के लिए भी समाज स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता, तो इससे बढ़कर फिर दूसरा कौन महत्वपूर्ण विषय हो सकता है ? जिसके लिए समाज स्त्रियों को स्वतन्त्रता देगा !

प्रायः देखा जाता है कि जब तक स्त्रियों को कोई भीषण रोग नहीं होता, तब तक वे किसी से अपना कष्ट नहीं प्रकट करतीं। पहले जब स्त्रियों को रोग उत्पन्न होता है तब वे दस-पाँच दिन उसे टालती रहती हैं। उसके बाद यदि वह और उग्ररूप धारण करता है, तब अपनी चिकित्सा करती हैं। यदि उससे भी कोई लाभ न हुआ तब वे किसी जान-पहचान वाली स्त्री की बनाई हुई दवा करती हैं। यदि उससे भी लाभ न हुआ तब कहीं घर वालों को उसका पता चलता है। तब फिर घरवाले सर तोड़ परिश्रम के साथ दवा-दारू करते हैं; किन्तु रोग बढ़ जाने पर वैद्य-डाक्टर कर ही क्या सकते हैं ? इसलिए उनको चाहिए कि जिस समय रोग उत्पन्न हो, उसी समय उसकी चिकित्सा किसी योग्य चिकित्सक

द्वारा कराएँ। मनमानी दवा करने से यदि रोग हट भी जाय, तो उसे अच्छा नहीं समझना चाहिए; क्योंकि मनमानी दवा करने से कई प्रकार की खराबियाँ पैदा हो जाती हैं। योग्य चिकित्सक मनुष्य की प्रकृति समझ कर उसका निदान करके तब चिकित्सा करते हैं और अपनी मनमानी दवा अथवा बाजार की पेटेन्ट दवाइयाँ हानि के सिवा लाभ कभी भी नहीं पहुँचा सकतीं। कभी-कभी तो ऐसी विचित्र घटना देखने में आई है कि—रोगी हो जाने पर लोगों ने मनमानी दवाइयाँ खाईं और मन-माना उपचार किया। अन्त में जब न अच्छा हुआ, तब बड़े-बड़े चिकित्सकों ने एकत्रित होकर चिकित्सा की; किन्तु अन्त में वे यमलोक की यात्रा करने चली गईं।

शशासृक् प्रतिमं यच्चुयद्वा लाक्षारसोपमं।
तदार्तवं प्रशंसंति यद्वासो न विरंजयेत्॥

अर्थात्—जो आर्तव खरगोश के रक्त के समान हो, अथवा लाख (लाह) के काढ़े के रंग के समान हो, और जिस आर्तव में रंगा हुआ वस्त्र पानी में छोड़ने से अपने रंग को न बदले; उसे शुद्ध आर्तव कहते हैं। ऐसा महर्षि सुश्रुताचार्य्य का मत है।

उपर्युक्त लक्षण शुद्ध आर्तव का हुआ। अब अशुद्ध आर्तव का लक्षण यह है—जिस आर्तव से सड़े मुर्दे-जैसी गंध निकले, गाँठ अर्थात् कतरा-का-कतरा रक्त निकले, अत्यन्त दुर्गन्धित पीब निकले और मासिक धर्म के समय मल-मूत्र भी थोड़ा हो, उसे अशुद्ध आर्तव कहते हैं।

रज की शुद्धि के विना उत्तम सन्तान नहीं पैदा हो सकती। जिन स्त्रियों को मासिक धर्म सम्बन्धी कोई खराबी होती है, उन्हें अनेक भयंकर रोग लग जाते हैं। जैसे—हिस्टीरिया, प्रदर, यक्ष्मा, श्वास और रक्तपित्त आदि। मासिक धर्म का ठीक समय पर होना स्त्रियों के लिए अत्यावश्यक है। इसके विना वे कभी भी सुखी नहीं रह सकतीं। आजकल प्राणीमात्र दुर्बल प्रकृति के होते हैं। इस-लिए जहाँ जरा-सी भी मासिक धर्म में खराबी हुई, वहाँ सब से पहले हिस्टीरिया रोग ही होता है।

आयुर्वेद में योषापस्मार और अँग्रेजी में इसे हिस्टीरिया कहते हैं। इस रोग में गर्भाशय की विकृति, रजस्राव का अभाव, पति का निष्ठुर व्यवहार, अधिक क्षीणता; वैधव्य, भय, शोक, क्रोध, मानसिक चिन्ता, रक्त की कमी, बद्धकोष्ठता और मानसिक दुर्बलता होती है।

इस रोग में छाती का धड़कना, बारबार जम्हाइयों का आना, अधिक आलस्य, शरीर में शिथिलता, मन का अप्रसन्न रहना, आँखों के आगे अँधेरा छा जाना, सिर में दर्द होना, चक्कर आना और धीरे-धीरे मूर्छित हो गिर पड़ना। बेहोशी के बाद हाथ-पैर का पटकना और ऐंठना, दाँत पीसना, जल्दी-जल्दी साँस लेना, मूक हो जाना अथवा अंट-संट बकना, निर्लज्जता अर्थात् वस्त्र का परित्याग करना, मुख से झाग निकलना, नेत्रों का फट जाना अथवा बन्द रहना आदि उपद्रव होते हैं।

इस रोग वाली स्त्री कभी-कभी घंटों बेहोश रहती है। उसको होश में लाने के लिए किसी तीव्र पदार्थ को नासिका-द्वारा ऊपर फूँक कर चढ़ाना चाहिए। पान का रस अथवा शहद के साथ सिद्ध मकरध्वज की मात्रा देनी चाहिए। हाथ-पैर में नारायण तैल की मालिश करानी चाहिए। यह प्रयोग केवल होश में लाने के लिए अच्छे हैं। इनके अतिरिक्त रोगिणी को प्रतिदिन शहद के साथ दो मात्रा सिद्ध मकरध्वज की और चैतस घृत की दो मात्रा देनी चाहिए तथा महा नारायण तैल की मालिश भी करानी चाहिए।

अब हिस्टिरिया के बाद एक महाभयंकर रोग प्रदर भी है। यह रोग—दूध-मछली (संयोग विरुद्ध भोजन) खाने, मद्यपान, पाचन शक्ति की खराबी, गर्भपात, छोटी अवस्था में अत्यन्त पति सहवास, अधिक रास्ता चलना, घोड़े आदि पर चढ़कर उसे दौड़ाना; शोक, लंघन, बोझ उठाना और किसी प्रकार मर्मस्थानों में चोट लगना इत्यादि कारणों से होता है। इसके अतिरिक्त प्रदर का दूसरा नाम असृद्दर भी है। यह भी उपर्युक्त कारणों से ही उत्पन्न होता है। इससे अँगों में पीड़ा तथा मटमैले रंग का स्राव होना, हाथ-पैर में ऐंठन होना, कमर में पीड़ा होना; अरुचि और रति की अनिच्छा आदि लक्षण होते हैं।

यह रोग चार प्रकार का होता है—वातज, पित्तज, कफज और सान्निपातिक। जिसमें रूखा और लाल रंग का, झागदार, मांस के धोअन-जैसा और पीड़ा के साथ स्राव हो, उसे वाजत प्रदर समझना

चाहिए। इसमें शीतल दवा का प्रयोग करना चाहिए। स्नेह पदार्थों का सेवन करना चाहिए। इस रोग में मुक्ता, प्रवाल आदि का प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है।

जिसमें—नीला, पीला, काला अथवा लाल रंग का गरम-गरम, दाह, पीड़ा और वेग के साथ स्राव हो, उसे पित्तज़ प्रदर कहते हैं। इसमें भी वातज प्रदर की तरह ही चिकित्सा करनी चाहिए।

जिसमें—आमरस युक्त, चिपकता हुआ, पीले रंग का अथवा मांस के धोए हुए जल के समान स्राव हो, उसे कफज प्रदर कहते हैं। इसमें अशोकारिष्ट, अशोक घृत और प्रदरान्तक वटिका का सेवन करना चाहिए।

जिसमें—घी, शहद अथवा हरताल के रंग का स्राव हो, मज्जा अथवा सड़े हुए मुर्दे-जैसी गंध निकले, उसे सान्निपातिक प्रदर कहते हैं; किन्तु यह असाध्य होता है। फिर भी इसकी चिकित्सा तो आवश्यक है। इसमें भी अशोकारिष्ट, अशोकघृत, प्रदरारि लौह, धात्रीघृत और चन्दनादि चूर्ण का सेवन करना चाहिए। इसके आगे जब रोग बढ़ता ही जाय अर्थात् इन लक्षणों के साथ-साथ ज्वर, अतीसार, दाह, तृष्णा और बल की कमी हो जाय, तब उसे एकदम असाध्य समझना चाहिए। ऐसा रोग आज तक जल्दी आराम होते नहीं देखा गया।

प्रदर रोग के अन्तर्गत बाधक अर्थात् बन्ध्या रोग भी होता

है। इसमें कमर में पीड़ा, स्तनों में पीड़ा अथवा भारीपन, मास में दो वार स्राव होना अथवा एक वार भी न होना, तीन-तीन मास तक ऋतुधर्म बन्द रहना, कभी कम और कभी अधिक होना, किसी को लंघन करने पर थोड़ा-सा स्राव होना, शरीर का दुबलापन और योनि में शूल आदि लक्षण होते हैं। इसकी भी चिकित्सा प्रदर-जैसी ही करनी चाहिए।

स्त्री रोगों में एक नष्टार्तव नामक रोग भी होता है। इसमें वातदिक दोषों के कारण रजस्राव का मार्ग रुक जाता है। जिससे नष्टार्तव रोग उत्पन्न हो जाता है। इसमें मासिक धर्म एकदम बंद हो जाता है और शिर में पीड़ा, शरीर में भारीपन, शरीर का टूटना और ज्वर आदि उपद्रव होते हैं। किसी-किसी को लाल रंग के चकत्ते भी निकलने लगते हैं, रक्तपित्त हो जाता है और इससे कुष्ठ रोग की सम्भावना होती है। ऐसी स्त्रियाँ प्रायः असमय में ही काल-कवलित हो जाती हैं। इसमें ऐसी दवा का प्रयोग करे, जिससे मासिक धर्म साफ होने लगे। इसकी दवा किसी योग्य चिकित्सक को दिखाए विना न करनी चाहिए।

इसके वाद स्त्रियों को सोम रोग भी होता है। यह मधुर और कफकारक पदार्थों के सेवन करने से तथा अधिक सहवास करने से, प्रमेही के साथ सहवास करने से, अधिक सोने से, अधिक मद्यपान से, चिन्ता और शोक से उत्पन्न होता है। इसमें स्त्रियों की कामशक्ति नष्ट हो जाती है, शिर में पीड़ा होती है, मुख और

तालु सूखता है। कृशता, कास, ज्वर, अरुचि, सहनशक्ति का नाश, हाथ-पैर में जलन, मुख का मीठापन आदि लक्षण होते हैं, और हर समय गुप्तांग से सफेद रंग का जलस्राव होता है। वृहत् चन्द्रोदय वटी, हेमनाथ रस, स्वर्णभस्म, शिलाजतुवटिका और मकरध्वज का सेवन करना चाहिए। काला तिल भी इस रोग वाली को अधिक लाभ पहुँचाता है!

जितने रोगों का वर्णन किया गया है। इनमें से किसी एक के रहते हुए भी गर्भ नहीं रह सकता। यदि रह भी गया, तो वह जल्दी ही नष्ट हो जायगा। यदि नष्ट न हुआ, तो रोगी सन्तान पैदा होगी और अल्प समय तक जीवित रहेगी। किन्तु सोमरोगवाली स्त्री को तो गर्भाधान होता ही नहीं; क्योंकि हर समय उसे स्राव हुआ ही करता है। इसलिए शुक्र उसी के साथ बाहर हो जाता है।

उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त गर्भपात भी अधिक संख्या में होता है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

आचतुर्थात्ततो मासात् प्रस्रवेद्गर्भविद्रव।
ततः स्थिर शरीरस्य पातः पंचम षष्ठयोः॥

अर्थात्—चौथे मास में जो गर्भ नष्ट हो जाता है, उसे गर्भ-स्राव कहते हैं; क्योंकि चार मास तक गर्भ पतली अवस्था में रहता है। इसके बाद पाँचवें अथवा छठे महीने में जो गर्भ गिरता है, उसे गर्भपात कहते है; क्योंकि इन महीनों में उसका शरीर परिपुष्टि की ओर चलता है।

गर्भ—चोट लगने, विषम भोजन करने, अर्थात् काम-जाद अथवा कभी चावल अधिक खाना और कभी रोटी अधिक खाना, इत्यादि कारणों से गर्भ गिर जाता है। कभी-कभी गरमी के दिनों में अधिक गरम के कारण भी गर्भपात हो जाया करता है। यदि गरमी के दिनों में ऐसा हो जाय, तो उसे ठंढी चीजें खिलाना चाहिए। अन्यथा गर्भ तो गिर ही जाता है, साथ-ही-साथ स्त्री का स्वास्थ्य भी बिगड़ जाता है। गर्भ गिरने के पहले रक्त-स्राव आरम्भ होता है। यदि उसी समय उसको रोकने की चेष्टा की जाय तो वह रुक भी जाता है। ऐसे समय में गर्भिणी स्त्री को चावलों का माँड़ और मूँग की दाल का पानी, थोड़ा घी मिला कर पिलाना चाहिए। गुलाब जल के साथ मुक्ता अथवा प्रवाल पिष्टी की मात्रा दिन में चार-पाँच बार पिलानी चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी योग्य चिकित्सक को दिखाकर तब चिकित्सा करनी चाहिए।

मूढ़गर्भ नामक भी एक रोग होता है। वह चार प्रकार का होता है। उसमें एकमात्र कारण वायु है। इसमें योनि तथा पेट में शूल होता है। शूल के कारण थोड़ा-थोड़ा पेशाब भी होता है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि जिस समय गर्भिणी को शूल उत्पन्न हो, उसी समय किसी चतुर दाई को बुलाकर ठीक तरह इसका उपचार करना चाहिए। अन्यथा थोड़ी ही देर में यह असाध्य हो जाता है। असाध्यावस्था के लक्षण—

अपविद्ध शिरायातु शीताङ्गी निरपत्रपा।
नीलोद्गत शिराहन्ति सागर्भं स च तो तथा ॥

अर्थात्—जिस गर्भिणी का मस्तक नत हो जाय, सब अँग शीतल हो जायँ, लज्जा जाती रहे, कोख में हरी-नीली शिराएँ मालूम पड़ने लगें; वह गर्भ गर्भिणी को और गर्भिणी गर्भ को नष्ट कर देती है

जिस गर्भवती का गर्भ निश्चल रहे, प्रसव-पीड़ा बन्द हो जाय, शरीर का वर्ण हरा अथवा नीला हो जाय, श्वास से दुर्गन्धि आए और पेट फूल जाय, उस गर्भ में मृत बालक समझना चाहिए। ऐसे गर्भ को तुरत दाई-द्वारा निकलवा देना चाहिए । अन्यथा मृत बालक के शरीर का विष, गर्भिणी के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है और वह गर्भिणी मर जाती है ।

मानसिक तथा आगंतुक दुःखों के कारण पीड़ा होकर बालक गर्भ में मर जाता है। इसके बाद वायु के वेग से योनि का संकोचन, गर्भ का रुक जाना, मक्कलशूल, कास और श्वासादिक होकर गर्भिणी मरण को प्राप्त होती है। ऐसी अवस्था में गर्भिणी प्रायः मर ही जाती है ।

बालक उत्पन्न होने के बाद जब तक पुनः उसे मासिक धर्म न हो, और उसके भीतर ही ज्वरादिक उपद्रव हो जायँ, तो उसे सूतिका रोग कहते हैं। यह रोग लड़का होने के बाद—मिथ्या आहार-विहार करने, वात और कफकारक पदार्थों के सेवन

करने, विषम और अजीर्ण कारक भोजन करने आदि से उत्पन्न होता है।

इस रोग में—ज्वर, अतिसार, शोथ, शूल, पेट का फूलना, बल का नाश; कफ और वात-जन्य उपद्रव, तन्द्रा, भूख न लगना, मुख से पानी का गिरना आदि लक्षण होते हैं। अशक्ति और अग्निमांद्य होने से यह रोग कष्टसाध्य हो जाता है। अधिक पुराना हो जाने पर यह रोग असाध्य हो जाता है। इसलिए इसकी चिकित्सा किसी सद्वैद्य-द्वारा शीघ्र करानी चाहिए। इस रोग में दशमूल के क्वाथ के साथ—बृहत् सूतिकावल्लभ रस, सौभाग्य-शुण्ठी वटी और जिस प्रकार का उपद्रव हो, उसकी शान्ति के लिए समझ कर दवा करनी चाहिए।

इस रोग में जो शूल होता है, वह मकल संज्ञक शूल होता है। उसके लिए शूलगजकेसरी—वच, वायविड़ंग और काला-नमक के साथ दिन में तीन मात्रा देनी चाहिए। प्रसूता को चावल और ठण्ढा जल न देना चाहिए। इन सब रोगों के अतिरिक्त स्त्रियों को अनेक प्रकार के रोग होते हैं। इसलिए जिस समय जो रोग अथवा उपद्रव हो, उसकी शान्ति के लिए किसी योग्य चिकित्सक-द्वारा चिकित्सा करानी चाहिए।

वातगुल्म—यह रोग पेट में होता है। जब कभी कोई वात-कारक पदार्थ खाया जाता है, तब वायु कुपित होकर एक गोला-सा बन जाता है। वह पेट भर में घूमा करता है। कभी-कभी वह जब

कलेजे पर चढ़ जाता है, तब रोगिणी की मृत्यु हो जाती है। अतएव जिस समय इस रोग का अंकुर उत्पन्न हो, उस समय तुरत इसका प्रतिकार करना चाहिए। वमन-विरेचन कराने से इसका और भी कोप होता है। इसलिए वमन-विरेचन न करना चाहिए। अधिक गरम एवं ठण्ढी औषधि से भी यह रोग बढ़ता है। वात और पित्त की परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिए। यदि पित्त का कोप होगा तो उसमें वमन स्वयं ही होगा। यदि कफ-जन्य होगा तो खाँसी, श्वास एवं मन्दाग्नि होगी।

पित्त-जन्य में—लौह भस्म दो मुनक्कों के साथ दिन में तीन वार, एवं वचादि चूर्ण गरम जल के साथ सुवह-शाम देना चाहिए। कफ-जन्य में—अजवाइन एक माशा, कपूरकचरी एक माशा, पुदीना की पत्ती एक माशा, वालवच एक माशा, काला नमक एक रत्ती, थोड़े गरम पानी में पीसकर उसमें अर्कलवण, लौहभस्म मिश्रित मात्रा मिलाकर दिन में तीन वार सुवह-शाम और दोपहर सेवन करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त दोनों समय भोजन के साथ हिंग्वाष्टकचूर्ण और घृत मिलाकर, पहले पाँच ग्रास के साथ खाना चाहिए। इसमें भात न खाना चाहिए। घी खाना लाभ-दायक है। दुग्ध पीना भी हानिकारक नहीं है। यदि कभी विशेष उदर-शूल हो, तो उपर्युक्त अनुपान के साथ अर्कलवण और शूल-गजकेशरी की मिश्रित मात्रा देनी चाहिए। त्रायमाणाघृत और रसायनामृतलौह भी इस रोग में विशेष लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

जिसमें वात का अंश विशेष हो, उसमें घृत का प्रयोग विशेष लाभदायक है। काली मकोय का शाक भी घी में भूनकर खिलाया जा सकता है। यदि दस्त की अधिक कब्जियत हो तो पेट में रेंड़ी का तेल धीरे-धीरे मालिश करना चाहिए। अगर उससे भी काम न चले, तब घृत पिलाकर अथवा और कोई स्नेहन पदार्थ देकर पेट की आँतों को चिकना कर दिया जाय, जिसमें दस्त भी आ जाए और वायु भी शान्त रहे। तीक्ष्ण, खट्टा, चावल, मीठा, तेल, आचार, दाना, गुड़, गरम एवं वातकारक पदार्थों का सेवन न करना चाहिए। इस रोगवाली रोगिणी को चलना एवं अधिक बैठना दोनों ही हानिकारक हैं।

रक्तगुल्म—निम्नलिखित कारणों से यह रोग उत्पन्न होता है।

नवप्रसूताऽहितभोजना या याचामगर्भंविसृजेद्दतौ वा।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्यरक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्॥

अर्थ—नवप्रसूता स्त्री, अपक्व गर्भपात हुई स्त्री अथवा ऋतुकाल में अहित पदार्थों का सेवन करने से वायु रक्त को ग्रहण करके सहित पीड़ा और दाह के गुल्म उत्पन्न करता है।

यह रोग बड़ा ही भयंकर होता है। पेट में नाभी के नीचे जहाँ बालक के रहने का स्थान है, वहीं पर यह रोग भी होता है। अथवा यों कहिए कि जिस जगह बालक रहता है, उसी जगह रक्तगुल्म भी स्थित हो जाता है। यह धीरे-धीरे बढ़कर सम्पूर्ण पेट

में फैल जाता है। दूषित हुआ रक्त सब धातुओं में मिलकर खराबी पहुँचाता है। जिस तरह बालक जरायु में लिपटा रहता है, उसी प्रकार उसपर भी एक झिल्ली लिपट जाती है। अन्त में वह कछुए की पीठ की नाईं मालूम पड़ता है।

जिस समय वह उग्ररूप धारण करता है; उस समय अरुचि, वमन, खाँसी, ज्वर, प्यास, तन्द्रा, जुकाम और अतीसार आदि उपद्रव पैदा हो जाते हैं। पाँच मास के बाद यदि कुछ लक्षण रक्तगुल्म के प्रकट होने लगें तो उसकी परीक्षा किसी सद्वैद्य से कराकर चिकित्सा आरम्भ कर देनी चाहिए। अधिक दिन व्यतीत हो जाने पर यह रोग असाध्य हो जाता है। चरक के मत से दस मास व्यतीत होने पर ही चिकित्सा करनी चाहिए; किन्तु कई बार मैंने स्वयं अनुभव करके देखा है कि दस मास के बाद चिकित्सा करने से रोगिणी नहीं अच्छी हुई और पाँच मास के बाद रक्तगुल्म के सम्पूर्ण लक्षण वर्तमान होने पर भी चिकित्सा की गई तो रोग अच्छा हो गया; बल्कि रोग अच्छा हो जाने पर उन्हें पाँच-छः बच्चे भी पैदा हुए। अतएव इसकी चिकित्सा, जिस समय भी रोग का निर्णय हो जाय, आरम्भ कर देनी चाहिए।

इस रोग में अधिक गरम अथवा अधिक ठंढी औषधि नहीं देनी चाहिए। रोगिणी का बलाबल विचार कर उसे निम्नलिखित औषधियों का सेवन कराए—दो तोले कालातिल, एक छटाँक पुराना गुड़, एक तोला इन्द्रायण की जड़। आध सेर चूना के

पानी के साथ पकाएँ। जब एक पाव पानी बाकी रह जाय, तब छान कर गरम-गरम प्रति दिन सुबह-शाम पिला दिया जाय। गोमूत्र के साथ वृहल्लोकनाथ रस अथवा अर्कलवण, दोनों समय दें। इसके अतिरिक्त जामुन का सिरका भी थोड़ा-थोड़ा दिन में दो-तीन बार देना चाहिए। सहस्रपुटी लौह की भी दो-तीन मात्राएँ मुनक्का के साथ दी जा सकती हैं। पेट पर सौंफ और सेंधानमक ईख के सिरके में पीसकर लेप करना चाहिए। यदि रोगिणी अधिक दुर्बल हो तो शहद के साथ प्रति दिन दोपहर को एकमात्रा सिद्ध मकर-ध्वज की देना लाभदायक होगा। यदि कभी दस्त में कब्जियत मालूम पड़े तो साधारण-सा विरेचन भी देना चाहिए। जब तक रोग पूर्णरूप से अच्छा न हो जाय, तब तक सहवास से बचना ही आरोग्यता का कारण होगा। कम-से-कम पन्द्रह दिन तक दवा का सेवन कराके तब किसी चतुर दाई से पेट मलवाना चाहिए। पेट इस तरह धीरे-धीरे मला जाय, जिसमें दर्द न पैदा हो। किसी कारण विशेष से यदि दर्द पैदा हो जाय, तो उस समय उसे शान्त करने के लिए जामुन के सिरका के साथ अर्क लवण और शूलगजकेशरी देना चाहिए। इस रोग में अधिक गरमी या सरदी; एकदम न चलना या अधिक चलना; खट्टा, तीता, तेल, आचार, चावल, उर्द, वद्र्धक एवं रक्त-शोषक पदार्थ हानिकारक हैं।

थनैल और उसके अनुभूत प्रयोग

यह रोग उन्हीं स्त्रियों को होता है जिनके बच्चे होते हैं।

इसे आयुर्वेद में स्तनविद्रधि कहते हैं। उन सिद्धान्तों को मैं भली प्रकार मानता हूँ। किन्तु उनके अतिरिक्त अनुभूत प्रयोग और सिद्धान्तों को भी मैं अच्छी तरह जानता हूँ। प्राय: यह रोग बालकों का सिर लग जाने के कारण पैदा होता है। कभी-कभी अधिक दूध जमा हो जाने पर भी होता है। दूध दो हालतों में जमा होता है—एक कभी बालक बीमार हो जाता है अथवा मर जाता है। जब बालक मर जाय अथवा बीमार हो जाय उस हालत में उचित है कि माता अपने स्तनों का दूध गारकर निकाल दिया करे। जो स्त्रियाँ ऐसा नहीं करतीं, उन्हें समझ लेना चाहिए कि वे जान-बूझकर थनैल को निमंत्रण दे रही हैं।

इस रोग में स्तन सिकुड़ जाता, कड़ा हो जाता एवं उसमें पीड़ा होती है। जब वह बढ़ने लगता है, तब उसमें टपक पैदा होती है और मवाद पैदा हो जाता है। उस हालत में बिना चीर-फाड़ के काम नहीं चलता। कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी है जो रोग पैदा हो जाने पर भी अपने बच्चों को किसी प्रकार तकलीफ सहकर भी दूध पिलाए चली जाती हैं। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम होता है। बालकों को बदहजमी की शिकायत हो जाती है, दूध फेंकने लगते हैं, हरे-पीले दस्त आने लगते हैं, दुर्बल हो जाते हैं। जिस समय इसकी शुरुआत मालूम हो उस समय भी यदि कुछ दूध निकाल दिया जाय तो शायद अच्छा हो जाय अथवा हो, तो कम हो। किसी-किसी को ज्वर भी आ जाता है। ज्वर की अव-

स्था में भी उसके नाश का उपाय करना चाहिए; किन्तु जो कुछ भी उपाय किया जाय वह ऐसा हो जिससे ज्वर न बढ़ने पाए। सौंफ एक तोला, सेंधानमक छः माशे ईख के सिरका में पीसकर दिन में तीन-चार बार लेप करना चाहिए। कालीजीरी, कुचिला, अफीम, चीता की जड़, गदहपूर्णा की जड़, रेंड़ की जड़ और निशोथ गोमूत्र में पीस और गरम करके लेप करना चाहिए, दिन में तीन-चार बार। यदि उसमें कुछ मवाद मालूम पड़े तो पुल्टिस आदि बाँधना शुरू कर देना चाहिए। पलास के पत्तों में सेंधा-नमक और घी लगाकर गरम करके बाँधने से कभी-कभी बैठ भी जाता है। इसके बाँधने से जब पीड़ा कम हो जाय तब किसी प्रकार उसका दूध निकालकर पुनः उपर्युक्त रीति से पलास का पत्ता बाँधने से निश्चय ही वह आराम हो जाता है।

गर्भावस्था के रोग

जिस समय स्त्री गर्भवती होती है, उस समय भी नाना प्रकार के वमन, अतिसार, ज्वर, अरुचि एवं उदरपीड़ा आदि रोग होते हैं। और समय की चिकित्सा करना सहज है; किन्तु इस समय की चिकित्सा बड़ी ही कठिन होती है। जरा-सी गरमी-सरदी पहुँ-चने पर जीवन-मरण का प्रश्न उठ खड़ा होता है। कभी-कभी तो बड़ा टेढ़ा कार्य हो भी जाता है। अतएव बहुत समझ-बूझकर चिकित्सा करनी चाहिए। गर्भ-स्थिति होते ही मास-दो मास पश्चात्

वमन और अरुचि शुरू हो जाती है। वमन का कारण एकमात्र यह है कि किसी-किसी के वीर्य में एक ऐसी शक्ति होती है, जिसे स्त्री अपनी प्रकृति के अनुकूल नहीं पाती और फल-स्वरूप वमन शुरू हो जाता है। वमन के साथ अरुचि का होना स्वाभाविक है। उस समय उसका चित्त हर प्रकार के भोजनों और चीजों से हट जाता है। किसी एक चीज की इच्छा यदि कभी उसे होती भी है तो वह तुरन्त ही देखकर चित्त हटा लेती है। हमारे भारतवर्ष में जिस प्रकार गर्भिणी की दुर्दशा होती है, वैसी किसी अन्य देश में नहीं होती। गर्भिणी स्त्री के लिए उचित है कि उसे हर तरह का आराम दिया जाय। आराम के माने यह नहीं है कि हर समय वह चारपाई पर ही लेटी रहे; बल्कि यों कहिये कि उससे परिश्रम का कार्य न लिया जाय तथा ऐसा भी कार्य न लिया जाय जिससे मानसिक क्लेश हो। गर्भिणी की दिनचर्य्या निम्नलिखित होनी चाहिए।

प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठने के बाद टट्टी आदि से निवृत्त होकर स्नान करलें, और उसके बाद थोड़ा हलका जलपान कर लेना चाहिए। दस और ग्यारह बजे के लगभग हलका भोजन—दाल, चावल, रोटी और शाक—करना चाहिए। भोजन—सादा, ताजा, मीठा और स्वास्थ्यकारक होना चाहिए। दोपहर में सोना हानिकारक है। उसके बाद चार बजे के लगभग थोड़ा जलपान करना आवश्यक है। सूर्य अस्त हो जाने पर किसी बगीचे में जाकर थोड़ा घूमना चाहिए। घूमना इतना ही चाहिए जितने में

भोजन आसानी से पच सके और अधिक थकावट भी न मालूम पड़े। अधिक चलने से वायु कुपित होने का डर रहता है। वायु कुपित होने से गर्भस्राव और गर्भपात की आशंका है। उसके बाद रात्रि में पुनः भोजन करके सो जाना चाहिए। अधिक सोना और न सोना दोनों अवस्थाएँ हानिकारक हैं। इसलिए गर्भिणी को कम-से-कम और अधिक-से-अधिक पाँच और सात घंटे सोना चाहिए। उसे कोई ऐसा कार्य न करना चाहिए, जिससे किसी प्रकार का दुःख हो; क्योंकि गर्भिणी के दुःखों का असर बालक पर बहुत बुरा पड़ता है। बालक रोगी हो जाता है। कभी-कभी अधिक मानसिक क्लेश हो जाने के कारण बालक के हृदय की गति तक बन्द हो जाती है और वह मर जाता है। ज्यों-ज्यों महीने बीतने लगें, त्यों-त्यों गर्भ की रक्षा करनी चाहिए। सात-आठ और नव मास में बड़ा ही खतरा रहता है। उस समय यदि वमन होता हो, तो तीन माशे मोरपंख जलाकर और तीन माशे बड़ी इलायची का छिलका जला कर शहद के साथ मिलाकर रख दें। दिनभर में पाँच-सात बार करके चाट जाया करें, और बड़ी इलायची का अधिक सेवन किया करें। अरुचि में—सौंफ का अधिक सेवन करना चाहिए। ज्वर में—तुलसी और नमक के साथ ज्वरांकुश रस एवं सहस्रपुटी अभ्रक का सेवन करना चाहिए। अतिसार में लवण भास्कर चूर्ण मट्ठे के साथ सेवन करना चाहिए।

माता का कर्तव्य

प्रायः बड़े और छोटे सभी स्थिति के लोगों में आजकल माताएँ अपने अबोध शिशु को अपना अमृतरूपी दुग्ध न पिलाकर धाय आदि का दूध पिलाती हैं; किन्तु धाय में अधिक व्यय होने के कारण अब विलायती रबरदार शीशियों में गाय का दूध भरकर पिलाने लगी हैं। परन्तु उसमें भी उनको कुछ कठिनाई प्रतीत होने लगी और धीरे-धीरे उसे बन्द करके इन्हीं रबरदार शीशियों में "हारलिक्स मिल्क" (विलायती दूध) भर कर अब पिलाती हैं।

ऐसा क्यों होने लगा ? इसपर गम्भीर विचार करने से तीन बातें मालूम होती हैं। सर्वप्रथम यह कि भारतवर्ष में अधिक लोग पाश्चात्य विद्याभ्यास करने के कारण अपने-आपको भूलकर साहब समझने लगे। जैसे—यूरोप आदि विलासप्रिय देशों में माताएँ अपने बालकों को दूध नहीं पिलातीं; ठीक वैसे ही यहाँ की माताएँ भी करने लगीं। वहाँ पर बच्चे पैदा होते ही दासियों के निरीक्षण में दे दिये जाते हैं; उनका सम्पूर्ण भरण-पोषण दासियों के ऊपर ही निर्भर करता है। बच्चे की माँ को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। लड़का पैदा होने के बाद ही वे चुस्त कपड़े पहनती हैं।

भारतीय माताएँ भी अब उनका अनुकरण करने लगी हैं। भारतवर्ष परतन्त्र होने के कारण निर्धन है। अतएव बालक पैदा होते ही घर की बड़ी-बूढ़ी, मौसी-काकी के निरीक्षण में बच्चा दे

दिया जाता है। वह अबोध शिशु माता को क्या जाने ! उसका तो जीवन अन्यों पर अवलम्बित है। बड़े-बड़े आयुर्वेद शास्त्र-मर्मज्ञों एवं विज्ञान-वेत्ताओं ने यह स्वीकार किया है कि—भूलकर भी छोटे बालक को बड़ी अवस्था वाले की गोंद में न देना चाहिए। ऐसा करने से वह बच्चा सदैव हृष्ट-पुष्ट एवं दीर्घायु होता है।

प्रकृति के नियमानुसार बालक तो माता का स्तन पीने के लिए खोजता है; परन्तु वहाँ पर तो इसका अभाव होता है। भूख लगने पर बालक रोना शुरू करता है। रोने पर उसके मुँह में चिम्मच-द्वारा दूध ठूँसा जाता है, जिसे वह पीता ही नहीं। अस्तु। उसके मुँह में वही रबरवाली शीशी ठूँस दी जाती है। धीरे-धीरे दूध के स्थान-पर "हारलिक्स मिल्क" पिलाना शुरू होता है।

दूसरा कारण यह है कि—थोड़ी अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग साहब लोगों से भी बाजी मारना चाहते हैं। वे लोग उनकी देखा-देखी साहबों-जैसा ही व्यवहार करने लगते हैं। किसी भी विद्या का पूर्ण पण्डित ज्ञान-गौरव से दब जाता है। वह किसी का अनुकरण करने के लिए कभी प्रस्तुत नहीं होता; किन्तु थोड़े पढ़े-लिखे लोग तो पदे-पदे अनुकरण करने लगते हैं। कुछ लोग तो स्वयं आज्ञा देकर मेमों का-सा व्यवहार करने के लिए स्त्रियों को बाध्य करते हैं और कुछ स्त्रियाँ बिना आज्ञा के ही गोरी बीबी बनने की लालसा से ऐसा करने लगती हैं। वे समझती हैं कि मेरे इस कर्त्तव्य से पति महाशय मेरी ओर अधिक आकृष्ट हो जायँगे।

मेरे ही होकर रहेंगे। किन्तु उनका यह सोचना नितान्त भ्रामक और मूर्खतापूर्ण है। जिस पुरुष को दूसरी ओर जाना ही होगा वह सभी दशाओं में जा सकता है, और जिसे नहीं; वह किसी दशा में किसी ओर आकृष्ट नहीं हो सकता।

तीसरा कारण प्रकृति की देन है। उसमें न किसी का दोष है और न वश। विवशता मनुष्य के लिए गूलर के फूल के समान है। वह सदैव पाने की इच्छा में चूर रहता है; किन्तु वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता। कितनी माताएँ ऐसी हैं, जिन्हें दूध होता ही नहीं। अस्तु। वे विवश होकर धाय अथवा गाय के दूध का अथवा मूर्खता वश अँग्रेजी दूध का प्रबन्ध करती हैं। हारलिक्स-मिल्क रबरवाली शीशियों एवं ऊट-पटाँग धाय के दूध पिलाने से अनेक हानियाँ होती हैं।

आयुर्वेद शास्त्र और विज्ञान पुकार-पुकार कर कहता है कि प्राणीमात्र के लिए ताजा ही भोजन सबसे उपयोगी है। उसके अतिरिक्त कोमल प्रकृति बालक के लिए तो माता का ही दुग्ध अमृत पेय है। उसके लिए संसार में एकमात्र खाद्य पदार्थ एवं शरीर को पुष्ट करने वाला वही माता का स्तन्य है।

प्रकृति ने प्राणीमात्र के लिए खाद्य निर्मित कर दिया है। किन्तु दुर्भाग्यवश भारतीय उसे त्यागकर बनावटी के पीछे दौड़ा करते हैं। जहाँ पर सुबह का रखा हुआ दूध शाम को न पिलाना चाहिए; इतनी कठोर आज्ञा है, वहाँ पर हारलिक्स मिल्क का, जो

न मालूम किन वस्तुओं से बनाया जाता है, पिलाना कहाँ तक न्यायसंगत है ?

इसके सेवन से बालकों को नाना प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं। जैसे—अग्निमांद्य, उदर-पीड़ा, अतिसार, ज्वर, हरे-पीले दस्तों का आना, अजीर्ण, दुर्बलता। इन रोगों की उत्पत्ति इस कारण से होती है कि हारलिक्स मिल्क आदि अखाद्य पदार्थों में मैदा, शक्कर और रंग का पुट होता है। अतएव वह पेट में जाकर चिपक जाता है, जिससे ये रोग पैदा हो जाते हैं।

यदि उसे आप केवल दूध ही मान लें, तो भी जिस समय दूध सुखाया जाने लगता है, उस समय वह धीरे-धीरे गुणहीन होने लगता है। अन्त में केवल निस्तत्व चूर्ण ही शेष रह जाता है। उस निस्तत्व पदार्थ में केवल पाचनशक्ति को विकृत करने वाली एक शक्ति विद्यमान रह जाती है और बाकी लुप्त हो जाती है।

दूसरा विचारणीय विषय रबरदार शीशी का है। रबर की शीशी बनाने में सीसे का क्षार काम में लाया जाता है। जब बच्चे उससे दूध खींचते हैं, तब वह उसी दूध में मिश्रित होकर पेट में चला जाता है। यह सीसे का क्षार विष होता है। इसके पेट में जाने से नाना प्रकार की भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। एक तो हारलिक्स मिल्क हानिकारक, दूसरे रबर के विष के साथ! यह तो वही बात हुई—"एक तो तितलौकी, दूसरे नीम के पेड़ पर चढ़ी हुई।"

तीसरा विचारणीय विषय धाय का है। प्रायः आजकल धाएँ धनोपार्जन के लिए यह कार्य करती हैं, और लोग सोचते भी हैं—जहाँ तक हो सके सस्ते-भाड़े निपटना चाहिए। विज्ञान कहता है, जिस प्रकार बिजली एक तार से दूसरे तार में प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अधिक अवस्थावाली धाय अथवा किसी व्यक्ति की गोद में जाने से बच्चे की शारीरिक शक्ति कम हो जाती है। प्रायः देखा भी जाता है कि—गोद में अधिक पलनेवाले बालक रोगी, दुर्बल, चिड़चिड़ी प्रकृतिवाले एवं अल्पायु होते हैं। अस्तु। धाय को खूब समझ-बूझकर रखना चाहिए। एकाएक किसी भी धाय को इस काम के लिए नियुक्त न कर लेना चाहिए; क्योंकि धाय को जो रोग होगा वही बालक को भी हो जायगा। धाय जिस जाति की होगी बालक के भी संस्कार उसी के समान होंगे। पहले तो मेरा अनुरोध यही है कि माता, बालक को स्वयं अपना दूध पिलाए और उसका पालन-पोषण करे। यदि उसके स्तन में दूध न हो, तब बात दूसरी है।

(१) बालक को पैदा होते ही स्नान कराना चाहिये। उस समय उसे कपड़े से पोछकर तेल लगाना और गरम पानी से भिगोया हुआ अँगौछा लेकर धीरे-धीरे बदन पोंछ देना चाहिए।

(२) उसके बाद उसे दूध पिलाना एवं घुटी देना चाहिए। थोड़ा-थोड़ा घी भी देना चाहिए। माता का दूध न होनेपर धाय अथवा गाय का दूध देना चाहिए।

(३) माता को कभी भी गरिष्ट, खराब, बादी, तीता, अधिक पतला, अधिक गरम, अधिक शीतल एवं निस्तत्व पदार्थों का सेवन न करना चाहिए।

(४) बालक को सदैव गरमी-सरदी का ख्याल करके वस्त्र पहनाना चाहिए। सोने-चाँदी के आभूषण पहनने से हानि होती है। कोमलता के कारण रगड़ लग जाने से बदन में घाव हो जाता एवं गरमी से फुन्सियाँ निकल आती हैं। जिससे उन्हें बड़ा कष्ट होता है। कभी-कभी तो कमर में आभूषणों के रहने से पेशाब भी आना बन्द हो जाता है।

(५) माता का दूध जब तक बालक पीता रहे, तब तक "आत्मसंयम" करना चाहिए; क्योंकि इसके बिना दूध में विकार आ जाता है। जिससे बालक रोगी होकर शीघ्र ही काल-कवलित हो जाते हैं और धार्मिकरूप से भी ऐसा करनेवाली माताएँ पाप की भागिनी होती हैं।

(६) भूलकर भी बालक को हारलिक्स-मिल्क तथा रबरदार शीशियों में गाय का भी दूध न पिलाना चाहिए। हाँ, विवश होकर धाय की शरण लेनी चाहिए।

(क) धाय ठीक माता के बराबर की हो, उससे अधिक अथवा कम अवस्था की न हो। साथ ही उसका बच्चा भी उस बच्चे के बराबर हो, जिसके लिए वह नियुक्त की गई हो। अधिक बड़ी अथवा छोटी होने से हानि होगी।

(ख) किसी योग्य चिकित्सक-द्वारा उसकी परीक्षा करा लेनी चाहिए। जिसे तनिक भी किसी प्रकार का रोग हो, उसे नहीं रखना चाहिए; क्योंकि रोगणी धाय का दूध पीने से वहीं रोग उस बालक को भी हो जायगा।

(ग) धाय के स्वभाव का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। जिससे बच्चे के ऊपर पहले से ही अच्छा प्रभाव पड़े। बालक कोमल प्रकृति का होता है, इससे उसपर साधारण-से-साधारण बात का भी प्रभाव शीघ्र ही पड़ जाता है; क्योंकि यहीं से संस्कृति की नींव पड़ जाती है। प्रायः किसी अच्छी अथवा बुरी लत पड़ जानेपर लोग कहा करते हैं—इसका तो जन्मसिद्ध अधिकार है। अतएव धाय कोमल प्रकृति; सदाचारिणी एवं सुशीला होनी चाहिए।

(घ) धाय, बालक को अपना बच्चा समझकर दूध पिलाने-वाली हो। साथ ही वह उससे यथेष्ट प्रेम भी करती हो। अन्यथा बिना प्रेम के पिलाया हुआ दूध बालक की परिपुष्टि में कभी भी सहायक न होगा; क्योंकि वह रुपए की लालच तथा घरवालों के डर से दूध पिलाएगी। घरवालों के लापरवाही करने पर समय से दूध पिलाएगी भी नहीं।

(ङ) जिस जाति का बालक हो, उसी जाति की धाय भी होनी चाहिए; क्योंकि जीवनपर संस्कृति का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है।

(च) जो धाय बालक को दूध पिलाती हो, उसे "आत्म-संयम" करना चाहिए। बिना इसके दुग्ध दूषित हो जाता है और बालक रोगी हो जाते हैं।

(छ) धाय को सदैव साफ-सुथरी रहना चाहिए।

(ज) धाय को सदैव स्वास्थ्यकर, बलदायक, पुष्टिकारक, नीरोग, ताजा, स्वादयुक्त, मिष्ट और सात्विक भोजन करना चाहिए।

यदि बालक को धाय का ही दूध पिलाया जाता हो, तब भी माता का कर्तव्य है कि दूध पिलाने के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की देख-रेख स्वयं करती रहे।

बाल-रोग और परिचर्या

प्राय: बड़े लोग तो अपने अच्छे-बुरे का भली भाँति ध्यान रखते और करते हैं; परन्तु छोटे-छोटे बालकों के स्वास्थ्य का पूरा उत्तरदायित्व उनके माता-पिता पर होता है। प्रसव होने तथा उसके कुछ दिनों बाद तक का पूर्ण उत्तरदायित्व परिचारिकाओं का ही होता है। यदि उस समय जरा भी गलती हुई, तो माता-पिता संतान-सुख से वंचित ही रह जाते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि उनको सूतिका एवं बालक दोनों की परिचर्या का पूरा-पूरा ज्ञान हो।

प्रसव हो जाने पर प्राय: बालक रोना शुरू कर देते हैं। यह

उनके नीरोग होने का प्रमाण-पत्र है। यदि बालक पैदा होते ही अथवा कुछ देर बाद तक भी रोने की चेष्टा न करे, तो उसके शरीर पर धीरे-धीरे हाथ से थपकी देना चाहिए । अगर उस पर भी वह न रोए अथवा कोई चेष्टा न करे, तब किसी चिकित्सक-द्वारा उसकी परीक्षा करानी चाहिए कि बालक निर्जीव, सजीव अथवा मूर्च्छित, किस अवस्था में पैदा हुआ है। कभी-कभी बालक सजीव अवस्था में भी पैदा होकर गर्भकालीन कफ मुँह में जमे रहने के कारण नहीं रोता। अतएव किसी चतुर दाई से उसे निकलवा देना चाहिए। अधिक देर तक रह जाने के कारण कभी-कभी सजीव भी निर्जीव में परिणत हो जाता है। बालक के न रोने का दूसरा कारण और भी है। प्रायः बालकों के गले में एक पतली झिल्ली लिपटी हुई रहती है। अतएव पैदा होते ही यत्न-पूर्वक उसे छुड़ा देना चाहिए। किसी-किसी समय बालक उस झिल्ली में लिपटा हुआ पैदा होता है, जिसमें वह गर्भ के भीतर होता है। उस समय उचित है कि किसी तेज शस्त्र-द्वारा उसे फाड़-कर बालक को बाहर निकाल दिया जाय; किंतु ध्यान रहे कि बहुत बचाकर ऐसा किया जाय, जिसमें किसी प्रकार बालक के शरीर में चोट न लगे। उस बंधन से उसे शीघ्रातिशीघ्र मुक्त करना चाहिए। जरा भी देर होने से उसकी मृत्यु हो जाती है। यदि बालक हाँफता हो, तो उसके मुँह पर जल का छींटा देना चाहिए। अगर इससे भी कोई लाभ न हो, तो उसे गले तक पानी में डुबो

देना उचित है। किंतु अधिक-से-अधिक दो मिनट तक पानी में रखना चाहिए।

यदि बालक मृतप्राय अवस्था में पैदा हुआ हो, तो उसका नाभि-नाल न काटा जाय, और तर्जनी एवं अँगूठे से धीरे-धीरे उसके गति की परीक्षा की जाय। जरा भी गति मालूम पड़ने पर आहिस्ते से उस नाभि-नाल का स्पर्श करते रहना चाहिए। जब वह रोने लगे, तब उसे काटना चाहिए।

कभी-कभी बालकों के नाभि-नाल की गति बहुत ही मन्द होती है। उस समय अविलंब उसे काट दें, और किंचित् गरम जल से मलकर स्नान करा दें और फिर उसे धीरे-धीरे थोड़ा झुला दें। ऐसा करने से शरीर-स्थित वायु द्वारा प्राण-वायु का संचालन होने लगता है।

एकदम स्वस्थ होने पर बालक का मुँह आदि साफ करके उसका नाल थोड़ी-थोड़ी दूर पर डोरे से दो जगह बाँधकर काट दिया जाय, और उस पर कंडे की राख दबा दी जाय। बिना दबाए अधिक रक्तस्राव होता है। राख ही सबसे सुगम एवं उसके लिए शुद्ध चीज है; किंतु राख गरम-गरम न होनी चाहिए।

नाल काटकर बालक को गरम पानी से साबुन लगाकर स्नान कराना चाहिए। अधिक अच्छा हो कि साबुन पहले ही से पानी में घोल दिया जाय, और धीरे से मलकर नहला दिया जाय। उसके बाद पुनः स्वच्छ जल से नहला दें। फिर उसे किसी

मुलायन वस्त्र से धीरे-धीरे पोंछ दिया जाय। नहलाते समय दो बातों का ध्यान रखना आयश्यक है—साबुन किसी तरह से उस की आँख में न जाने पाए। जब नहलाया जाय, तब हरएक जोड़ों का मैल साफ कर दिया जाय। साथ-ही-साथ सम्पूर्ण अंगों को मल-कर पोंछ दिया जाय। उस समय का देखना आवश्यक इसलिए है कि कभी-कभी बालकों का अंग जुड़ा हुआ होता है। यदि कोई भी अंग ऐसा देख पड़े, तो उसी समय डाक्टर को बुलाकर ठीक कराना चाहिए। अधिक दिन बीतने पर ज्यों-ज्यों अंग परि-पुष्ट होते जाते हैं; त्यों-त्यों कठिनता बढ़ती जाती है।

अगर बालक पैदा होते ही दूध पीना आरम्भ न करे, तो उसे रुई के फाहे से दूध पिलाना और उसकी खोज करना चाहिए कि यह किस कारण दूध नहीं पीता। जन्म लेने के बाद यदि चौबीस घण्टे तक बालक को दस्त न आए, तो उसकी गुदा में साबुन की बत्ती बनाकर चढ़ाना चाहिए। किसी-किसी बालक की गुदा में पतला, किंतु कड़ा माँस का टुकड़ा अटका रहता है। अतएव पता लगते ही उसे निकलवा देना चाहिए।

बालक को स्नान कराकर गरम फलालैन के कपड़े में लपेट कर मुलालम चारपाई पर लिटा दिया जाय। जहाँ पर बालक और सूतिका-निवास-गृह को उसे गरम रखना आवश्यक है; किंतु सीमा के बाहर गरमी भी हानिकारक है। प्रायः लोग वहाँ पर कंडे जला रखते हैं; किंतु उसका धूम्र विष होता है। इसलिए वहाँ पर

साधारण आँच ही पर्याप्त होगी। वहाँ पर किसी प्रकार की वायु न आने देना चाहिए; किन्तु साथ ही यह ध्यान रहे कि कम-से-कम इतनी वायु अवश्य मिले, जिससे उनकी श्वासक्रिया में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। साथ-ही-साथ वह घर भी खूब साफ-सुथरा हो। किसी प्रकार की सील अथवा कीड़े-मकोड़े न हों। बालक को, उसकी माता के पास ही रखना उचित है।

बारहवें दिन का स्नान कराके तब उसे प्रतिदिन स्नान कराना चाहिए। जाड़ा, गरमी और बरसात सभी मौसम में दोपहर को ग्यारह बजे बदन में सरसों का तेल मलकर फिर जौ के महीन आटे की लोई से संपूर्ण बदन को पोंछकर उपर्युक्त रीति से गरम पानी से नहलाकर झट पोंछकर गरम कपड़े में लपेट दें। गरमी के मौसम में गरम कपड़े के बजाय ठंढे कपड़े में ही लपेटना चाहिए। बरसात और जाड़े में जब अधिक सरदी मालूम पड़े, तब नहीं स्नान कराना चाहिए।

बालकों के पहनने, ओढ़ने, बिछाने एवं किसी प्रकार से काम में आनेवाले वस्त्र सदैव मुलायम, साफ-सुथरे, हलके एवं सुगंधित होने चाहिएँ। बालक को सदैव खुले मुँह सुलाना लाभदायक है। उनका वस्त्र कभी मलीन न होना चाहिए।

पैदा होने से सवा मास बाद तक उसे घुटी देना आवश्यक है। पोदीना, सौंफ, अतीस, लवंग, अमिलतास, अजवाइन, वाय-विड़ंग, मुनक्का, सोंठ, सुहागा चौकिया भूनकर और कालानमक;

सब चीजें दो-दो रत्ती आधी छटाँक जल के साथ पकाई जायँ। जब आठ आने भर पानी बाकी रह जाय, तब छानकर उसे पिला दिया जाय। अगर उसे कुछ कब्जियत की शिकायत मालूम हो, तो एक रत्ती अतीस महीन पीसकर शहद के साथ सुबह-शाम चटाया जाय। किसी प्रकार भी ऐसा कार्य न किया जाय, जो वास्तव में बालक को हानि पहुँचानेवाला हो। उसके पालन-पोषण एवं मौसम का खूब ध्यान रखना चाहिए। बारह दिन बीत जाने पर बालक के पालन-पोषण का पूर्ण रूप से दायित्व माता के ऊपर आ जाता है। यहाँ से परिचारिकाओं की जिम्मेदारी का थोड़ा अंश रह जाता है। उस समय माता को खूब ध्यान रखकर बालक को दूध पिलाना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि माता मोह के कारण बालक को अधिक एवं बार-बार दूध पिलाया करती हैं; किंतु यह उनकी अज्ञानता है। बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसी हैं कि जहाँ बालक ने रोना शुरू किया, झट उनके मुँह में स्तन ठूस दिया गया। यह उनका दोष नहीं है; बल्कि वे यह समझती हैं कि यह भूख के कारण ही रो रहा है। परंतु ध्यान रहे, अधिक दूध पिलाना उनका गला घोटना है। अधिक दूध पिलाने से अजीर्ण, अतिसार, पेट का फूलना और दूध का फेंकना आदि अनेक उपद्रव होते हैं।

बालक को दूध पिलाने के लिए माता अथवा धाय को उचित है कि वह सीधे बैठकर स्तनों को जल से धोकर, थोड़ा दूध गिराकर तब पिलाए और पहले दाहना, उसके बाद बायाँ स्तन पान

कराना चाहिए। कोई-कोई स्त्रियाँ अज्ञानता-वश एक ही स्तन से बालक की तृप्ति करा देती हैं; परंतु यह भारी भ्रम है। उसका अंतिम परिणाम बड़ा भयंकर होता है। धीरे-धीरे वह दूध जमकर स्तन-विद्रधि पैदा कर देता है। बालक को सदैव गोद में लेकर दूध पिलाना चाहिए। लेटकर पिलाने से कर्णरोग हो जाता है।

भूख, शोक, अनिद्रा, निद्रा, थकावट, प्रदर, रक्तविकार, गर्भ, ज्वर, कृशता, स्थूलता एवं कामातुर अवस्था में माता बालक को स्तनपान न कराए। लड़ाई-झगड़ा और उद्विग्न अवस्था का पिलाया हुआ दूध भी हानिकारक होता है।

माता को सदैव सादा, ताजा, पौष्टिक, बलदायक और हल्का आहार कराना चाहिए। तरह-तरह के चरपरे और गड़बड़ पदार्थ खाने से बहुत-सी व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उनमें जो-जो पदार्थ खाने से जिन-जिन दोषों का कोप होता है, उसके लिए माधवाचार्य कहते हैं—

वातदुष्टं शिशुस्तन्यं पिबन् वातगदातुरः;
क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद् बद्धविण्मूत्रमारुतः।

अर्थ—वातकारक पदार्थ खाने से जो दूध उत्पन्न होता है, उसे पीकर बालक वातजन्य रोगों से पीड़ित होता है। क्षीणस्वर, कृशांग, मल-मूत्र और वायु का भी अवरोध हो जाता है।

स्विन्नो भिन्नमलोबालः कामलापित्तरोगवान्;
तृष्णालुरुष्णःसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन्।

अर्थ—पित्त से दूषित दूध पीने से बालक पसीनायुक्त, पतले दस्तवाला, कामला-रोग से पीड़ित, तृष्णायुक्त होता है, और उसका सर्वांग गरम रहता है।

कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान्;
निद्रान्वितो जड़ः शूलः शुक्लाक्षश्छर्दनः शिशुः।

अर्थ—कफ से दूषित दूध पीने से बालक लार बहानेवाला, कफ-जन्य व्याधियों से पीड़ित, निद्रायुक्त, जकड़ी देहवाला, शूल-रोगी, सफेद नेत्रोंवाला तथा वमन करनेवाला होता है।

इसके अतिरिक्त जब दो दोषों में से कुछ लक्षण मिलें, तो द्वंद्वज समझना चाहिए। तीनों दोषों के कुछ-कुछ लक्षण मिलने पर त्रिदोषज समझना चाहिए। इसलिए कभी कोई ऐसा पदार्थ न खाया जाय, जिससे किसी दोष के बढ़ने की संभावना हो। ऐसे समय में दाल, रोटी, दलिया, परवल-नेनुआ का शाक, घी, दूध और पौष्टिक पदार्थ खाने चाहिएँ। जिस दिन कुछ भी कब्जियत की शिकायत मालूम पड़े, उस दिन भोजन कम करना और कोई साधारण-सा, हर्र, कालानमक का विरेचन ले लेना उचित है।

यदि माता के दूध कम होता हो, तो अरहर की दाल के जूस में घी मिलाकर पिलाने से लाभ होता है एवं पर्याप्तरूप में बालक के लिए दूध मिल जाता है। अगर इस उपाय से भी पर्याप्त मात्रा में दूध न मिले, तब उसे गाय का दूध और पानी समभाग मिलाकर पकाएँ और केवल दूध रह जाने पर उसे गरम राख पर

रख दें, जब आवश्यकता हो, तब थोड़ा-थोड़ा छानकर पिलाया करें। हर समय दूध न पिलाना चाहिए। दूध पिलाने का समय कम-से-कम निर्धारित कर लेना आवश्यक है। परन्तु रात में जब वह जागे, तभी उसके मुँह में दुध न लगा देना चाहिए। ऐसा करने से तरह-तरह की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

हृदय

चित्तं तु चेतो हृदयं स्वांतं हृन्मानसं मनः—इत्यमरः

चित्त, चेत, हृदय, स्वांत, हृद्, मानस और मन; ये सातों शब्द हृदय के ही पर्यायवाची हैं। हृदय ही जीवन है, जीवन ही हृदय है। साहित्य में काव्य का जो स्थान है, वही मानव-शरीर में हृदय का है। काव्य और हृदय का बड़ा घना सम्बन्ध है। इसीलिए काव्य सहृदय-संवेद्य वस्तु है। साहित्य-सेवियों के लिए हृदय के संबन्ध में बहुत-सी बातें जानना अत्यावश्यक है। आगे ऐसी ही बातों की चर्चा मिलेगी।

आधुनिक वैज्ञानिकों-द्वारा निर्मित यंत्र अनवरतगति से न चलकर भी किस समय एकाएक अकर्मण्य बन जायँगे; इसे बहुत अंशों में वे स्वयं भी नहीं जानते। किंतु हमारी प्रकृति ने हमारे शरीर का यंत्र ऐसा बनाया है, जो अनवरतगति से क्रियाशील होकर भी अपने कार्यकाल से पहले प्रायः अकर्मण्य नहीं होता।

उस यंत्र का कार्य निरन्तर, अहर्निश, अविश्रान्त गति से हुआ करता है। उसने एक पल के शतांश समय भी विश्राम करना नहीं सीखा है। उसके लिए मानों विश्राम शब्द की सृष्टि ही नहीं हुई। उसकी गति जिस समय अवरुद्ध हो जाती है, उस समय संसार छूट जाता है। वह संसार का नहीं, और संसार उसका नहीं। उसकी गति का ही नाम जीवन, और उसका विश्राम ही मृत्यु है। चरक के शारीर-स्थान में लिखा है—

हृदयं चेतनाधिष्ठानमेकम्।

चेतना का अधिष्ठान एक हृदय ही है। इसी एक छोटे-से यंत्र-द्वारा इतने बड़े शरीर का संचालन होता है। जिस समय पाचन-क्रिया में विकृति होती है; उस समय, और जिस समय मधुमेह से मनुष्य पीड़ित होता है; उस समय भी, डाक्टर लोग यही कहते हैं कि यकृत में इतनी शक्ति नहीं है जो उसे पचा सके अथवा यकृत में उस मधुर पदार्थ को मूत्राशय में जाने से रोकने की शक्ति शेष नहीं हैं। इसलिए उसे विश्राम मिलना आवश्यक है। किंतु कोई भी भला चिकित्सक, हमारे हृदय पर तनिक भी दया का भाव प्रदर्शितकर, यह नहीं कहता कि हृदय को बहुत काम करना पड़ा है; अतएव अब उसे थोड़ा विश्राम मिलना चाहिए। हाँ, रोग विशेष में, जिस समय हृदय को अधिक तीव्रता के साथ काम करना पड़ता है, चिकित्सक लोग यह अवश्य कहते हैं कि हृदय को इतना अधिक कार्य अब न करना चाहिए। परतु

उसे अकर्मण्यावस्था में देखना कोई भी पसन्द नहीं करता। उसकी अकर्मण्यता ही हमारे शरीर का अवसान है—अंत है।

हृदय कैसा है ?

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति॥

हृदय कमल के आकार, और नीचे के मुखवाला होता है। वह जाग्रतावस्था में विकसित और स्वप्नावस्था में आकुंचित रहता है। जिस समय हमारे विचारों में कोई ऐसी बात आ जाती है, जिससे हमें कष्ट का अनुभव करना पड़ता है; उस समय भी हमारा हृत्कमल मुरझा जाता है, शरीर मलीन दीखता है एवं संसार तुच्छ मालूम पड़ता है। यह क्या है ? यह हमारे विचारों का, हमारे हृदय पर प्रभाव पड़ता है। यदि हम किसी समय शारीरिक व्याधि से अत्यंत पीड़ित हों; किंतु एकाएक कोई ऐसा संवाद सुनाई पड़ जाय, जिससे हमें वास्तविक हर्ष का अनुभव होने लगे; उस समय तुरत हमारा हृत्कमल विकसित हो जायगा; और बहुत अंशों में उस व्याधि के दुःख से क्षण भर के लिए हम मुक्त-से हो जायँगे। इसीलिए राजयक्ष्मादिक-जैसी भयंकर व्याधियों से ग्रस्तजनों के परिचारकों को शास्त्रकारों ने आदेश दिया है कि हर समय रोगी को प्रसन्न रखने की चेष्टा की जाय; जिससे रोगी का हृत्कमल मुरझाने न पाए। हमारा हृदय ही सबसे पहले सुख-दुख का अनुभव करता है। हृदय और मस्तिष्क का अन्योन्याश्रय संबंध है।

जिसका प्रभाव जैसा हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है, वैसा ही मन पर भी। किंतु शारीरिक आघात-प्रतिघात हृदय को ही सहन करना पड़ता है। मनुष्य एकाएक किसी दुःखद घटना का समाचार सुनकर वेहोश हो जाते अथवा मर जाते हैं। उस समाचार का प्रभाव सर्व प्रथम हमारे हृदय पर ही होता है। उस समय हमारी चेतनाशक्ति नष्ट हो जाती है। जव किसी संवाद के सुनते ही हम अचेत हो जाते हैं; तव उसका प्रभाव हमारे हृदय पर इस प्रकार पड़ता है कि हृदय की गति अत्यंत तीव्र हो जाती है, और उस तीव्रता का प्रभाव सीधे हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है। फलतः हमारी ज्ञानशक्ति एकदम नष्ट हो जाती है, हम मृतक-समान हो जाते हैं। उन्मादादिक व्याधियों का संवंध हमारे मन और मस्तिष्क से है—किंतु मन से अधिक और मस्तिष्क से कम। इसीलिए उन्मादादिक, मानसिक व्याधि मानी गई हैं।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि उनके मन अथवा हृदय की वात कौन जानता है? वास्तव में ये दोनों एक ही हैं। जैसे—विनायक और गणेश। हमारा हृदय गर्भावस्था से कर्मण्य होकर मरणपर्यन्त क्रियाशील ही वना रहता है। जिस समय मनुष्य सो जाता है अथवा अचेतावस्था में रहता है, उस समय भी हृदय वरावर अपना कार्य किया ही करता है। स्वप्न भी एक प्रकार का चेतनाशक्ति का भ्रम ही है। हृदय और मन से जो वात उत्पन्न होती है, उसे हार्दिक अथवा मानसिक कहते हैं।

हृदय और संसार

सुहृद् और दुहृद् दो शब्द हैं। दोनों ही बड़े व्यापक हैं। सद् और असद् व्यवहार ही दोनों की सार्थकता का द्योतक है। व्यवहार के अनुरूप ही मानव-हृदय का परिचय मिलता है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि उस व्यक्ति का हृदय बड़ा काला है। इसके माने यह है कि उसका व्यवहार ऐसा होता है, जिससे लोग ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। हृदय का आकार-प्रकार प्रायः सबका एक ही जैसा होता है। हाँ, अंतर इतना अवश्य होता है कि अवस्था अधिक व्यतीत होने पर हृदय कुछ नीले रंग का हो जाता है। हृदय काँच के आइने के माफिक है। यहाँ पर यह समझा जा सकता है कि अवस्था अधिक बीतने पर उस पर इतने अधिक प्रतिबिंब पड़ते हैं कि कुछ नीलापन आ जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि इस अवस्था में रक्त के कारण ही उसके रंग में परिवर्त्तन हो जाता हो। हमारे उर्दू कवियों ने भी हृदय को आयना ही कहा है—

बेमुरौव्वत बेरुखी से शीश-ए दिल को न तोड़;
य वही है आइना जिसमें तेरी तस्वीर है।

हमारा—हृदय—मन किसी सुन्दर वस्तु को देखकर अथवा गुणानुवाद सुनकर जिस समय उसके लिए लालायित होता है, उस समय हमारे मस्तिष्क में बहुत-से विचारों का प्रवाह होने

लगता है। अनेक प्रकार की कल्पनाएँ तरंगित हो उठती हैं। हमारा हृत्कमल उसी के अनुसार विकसित हो जाता है। अंत में मन और मस्तिष्क परस्पर उथल-पुथल मचाकर किसी-न-किसी नए भाव का निर्माण कर ही लेते हैं। कल्पना हमारे मन और मस्तिष्क की उपज है। मन और मस्तिष्क के पाँच सहायक हैं—नेत्र, कर्ण, घ्राण, जिह्वा और त्वचा। जिस समय हम किसी चीज को देखते, सुनते, सूँघते, रसास्वादन करते अथवा स्पर्श-सुख का आनंद लेते हैं; उस समय उस वस्तु का प्रभाव हमारे मस्तिष्क पर होता है, और तुरत ही हमारा हृदय उसके आनंद के लिए आतुर हो उठता है तथा हमारे मन और मस्तिष्क में भयंकर द्वंद्व मच जाता है। कभी-कभी मस्तिष्क पर मन विजय पाता है और कभी मन पर मस्तिष्क। किन्तु बहुधा मन ही के साथ विजय-श्री रहती है।

हृदय की साहित्यिकता

कवि, साहित्यिक और साहित्य-प्रेमी के लिए हृदय एक बहुमूल्य वस्तु है। प्रसन्न, निर्मल, निष्कपट, एकाग्र और ईर्ष्या-रहित हृदय ही प्रकृत साहित्यिक और कवि हृदय है। वही विश्व-विश्रुत यश का अधिकारी हो सकता है। जिसमें प्रसन्नता का अभाव है, कालिमा की रेखा खिंची हुई है, कपट कूट-कूट कर भरा हुआ है, बुद्धि की चंचलता है, ईर्ष्या-द्वेष की अहर्निश अग्नि जलती रहती है, वह कवि-हृदय और साहित्यिक-हृदय कहलाने

योग्य नहीं है। उस हृदय का उपयोग कवित्व-शक्ति के लिए नहीं है। उसके हृदय में वैसे ही भाव उद्भूत होंगे। वह ब्राह्मण का ब्रह्मराक्षस बना देगा। सरसता ही साहित्यिक हृदय का एक अनुपम गुण है। सहृदय कवि के हृदय में कभी इस बात का आभास ही नहीं होता कि अमुक राज-प्रासाद है, अमुक एक गरीब का झोपड़ा है, और यह हमारी कुटी है। उसका हृदय स्फटिक है।

नारी-हृदय

पुरुष से नारी का हृदय अधिक सुकुमार होता है। वही संसार में, कोमल भावों की जननी है। जितने कोमल भावों का प्रादुर्भाव नारी कर सकती है; पुरुष नहीं कर सकता। नारी-हृदय अत्यंत कोमल एवं सुकुमार होता है। उसके जितना मार्दव पुरुष में कहाँ? वह जननी है। जितनी मृदुता की कल्पना उसका मन और मस्तिष्क कर सकता है; उतना पुरुष का नहीं। वह परिस्थितियों की सहेली है—हृदय की रानी है। वह है सहचर, दास। नारी-हृदय में मलीनता के स्थान पर निर्मलता, कपट के स्थान पर विश्वास, द्वेष के स्थान पर सहानुभूति, मृगतृष्णा के स्थान पर शान्ति और ज्वाला के स्थान पर हिम-कण वास करता है।

जितनी शीघ्रता से किसी बात का अनुभव नारी-हृदय करता है, नर-हृदय नहीं कर सकता। कठिनतर नारी-हृदय की समता, कोमलतर नर-हृदय नहीं कर सकता। जिस शील और सहानुभूति

का पुट नारी-हृदय में होता है, वह नर-हृदय में कदापि संभव नहीं ! दुखी और गरीब पुरुष का हृदय कठोर होगा; किंतु ऐसी ही परिस्थितियों को झेलनेवाली एक नारी का हृदय अवश्य ही कोमल होगा। वह दूसरे के कष्ट को देखकर अवश्य पिघल जायगा। नारी-हृदय की कोमलता ही उसे अत्याचार सहन के लिए वाध्य करती है।

हृदय क्या है ?

हमारी छाती की अस्थियों के कुछ नीचे से लेकर जहाँ पर उनका अन्त होता है, उसके कुछ नीचे तक हृद्यंत्र अवस्थित है। हमारा शरीरस्थ हृदय जीवन-क्रिया के साथ ही रक्त-प्रणाली का संपादन भी करता है। उसका सहकारी, फेफड़ा दूषित पदार्थों को अलग किया करता है। हृदय थैला-जैसा, माँस पेशियों-द्वारा निर्मित कमल के आकार का एक यंत्र है। यह शरीर के बाएँ भाग की ओर थोड़ा खिसककर अवस्थित है। उसके दोनों ओर फुफ्फुस है। हृदय में चार कोष्ठ होते हैं। नीचे के दो कोष्ठों को क्षेपक कोष्ठ कहते हैं, और ऊपर के दो कोष्ठों को ग्राहक कोष्ठ कहते हैं। जिस समय हमारा हृदय आकुंचित होता है, उस समय उसके भीतर का रक्त शीघ्रतापूर्वक बड़ी धमनियों में चला जाता है, और प्रसारण के समय रक्त पुनः ग्राहक कोष्ठ में चला आता है। हृदय का आकुंचन और प्रसारण क्षण-प्रतिक्षण होता रहता है। यही आकुंचन और प्रसारण जीवन है। इस क्रिया के बिना

हम कदापि जीवित नहीं रह सकते। यह क्रिया गर्भावस्था से लेकर मरणपर्यन्त होती ही रहती है।

हृदय के कार्य

हृदय के चार कोष्ठों की रचना इस प्रकार की है कि रक्त-ग्राहक कोष्ठ से निकलकर क्षेपक कोष्ठ में जाता है। किंतु क्षेपक से सीधे लौटकर ग्राहक में नहीं आ सकता। दोनों के बीच में इस प्रकार की कला है कि वह रक्त निकल जाने पर संकुचित हो जाती है और पुनः रक्त को उधर से नहीं लौटने देती। इसी तरह दाहने ग्राहक और क्षेपक कोष्ठ के बीच में भी एक मार्ग-रोधिनी कला होती है। दाहने ग्राहक कोष्ठ से दो शिराएँ जाती हैं। एक ऊपर को ओर और दूसरी नीचे की ओर। ऊपर की शिरा को ऊर्ध्व महाशिरा और नीचे की शिरा को निम्न महाशिरा कहते हैं। इन दोनों नाड़ियों का कार्य ऊपर और नीचे का रक्त एकत्रित करना है। इनके मुख पर भी एक प्रकार की कला होती है। इसी तरह दाहने क्षेपक कोष्ठ से भी एक शिरा-भाग आता है, और वह दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक शिरा दाहने फुफ्फुस की ओर, और एक बाएँ फुफ्फुस की ओर चली जाती है। यही फुफ्फुसीय शिरा कही जाती है। इसके मुख पर भी एक कला होती है। बाएँ क्षेपक कोष्ठ की चार शिराएँ, दाहने और बाएँ फुफ्फुस से सम्बन्धित हैं। इन चारों में से; दो बाएँ फुफ्फुस से जुड़ी हैं,

और दो दाहिने। ये चारों शिराएँ भी फुफ्फुसीय शिराएँ हैं। इनके मुखपर किसी प्रकार की मार्गरोधिनी कला नहीं होती। मार्गरोधिनी कला-रहित महाधमनी बाएँ क्षेपक कोष्ठ के पीछे से आती है। केवल फुफ्फुसीय धमनी को छोड़कर शरीरस्थ संपूर्ण धमनियाँ इसी से सम्बद्ध हैं।

रक्त के आने-जाने का मार्ग बताया जा चुका है। उसके विपरीत रक्त एक कोष्ठ से दूसरे कोष्ठ में नहीं आ-जा सकता। किसी कारण विशेष से मार्गरोधिनी कला के विदीर्ण हो जाने पर ही ऐसा हो सकता है। उस समय हमारे हृदय की क्रिया एकदम खराब हो जाती है और हमारा जीवन भयंकर संकष्टापन्न हो जाता है। ग्राहक कोष्ठ केवल रक्तादान करता है, और क्षेपक केवल रक्त-प्रदान करता है। इनकी आदान-प्रदान क्रिया अहर्निश चलती रहती है। शुद्ध और ताजा रक्त हमारे सम्पूर्ण शरीर से घूमकर; ऊपर का रक्त ऊर्ध्व महाशिरा-द्वारा दाहने ग्राहक कोष्ठ में चला जाता है, और निम्न महाशिरा-द्वारा नीचे का रक्त भी उसी दाहने ग्राहक कोष्ठ में चला जाता है। रक्त के पहुँचते ही हृदय आकुंचित हो जाता है, और मार्गरोधिनी कला के द्वारा दाहने क्षेपक कोष्ठ में संपूर्ण रक्त चला जाता है। रक्तादान होते ही यह भी आकुंचित हो जाता है, और संपूर्ण रक्त फुफ्फुसीय धमनी-द्वारा फेफड़े में चला जाता है। वहाँ पर केशिकाएँ जाल की तरह बिछी हैं। उन्हीं के द्वारा उस रक्त का संस्कार होता है और वह मैल साफ हो

जाता है। मैल साफ हो जाने पर पुनः वह अपने असली रंग पर आ जाता है और उस मैल को श्वास-द्वारा हम बाहर निकाल देते हैं। हमारा फेफड़ा रक्त को संस्कृत कराकर, पुनः हृदय को लौटा देता है। हृदय के दाहने क्षेपक और ग्राहक कोष्ठ में, सदैव अशुद्ध रक्त रहता है, और बाएँ में सदैव शुद्ध।

जिसके द्वारा हृदय में अशुद्ध रक्त आता है, उसे महाशिरा कहते हैं। जिसके द्वारा वह रक्त फेफड़े में जाता है, उसे फुफ्फुसीय धमनी कहते हैं; और जिसके द्वारा संपूर्ण शरीर में रक्त-प्रवाह होता है, उसे धमनी कहते हैं। इन्हीं धमनियों से बहुत-सी शाखाएँ निकली हैं, और वे इतनी पतली हैं कि उनकी मोटाई एक बहुत पतली त्वचा के समान है। वे ही धमनियाँ एक जाल-सी बनी हैं, जिन्हें केशिकाएँ कहते हैं। ये केशिकाएँ सम्पूर्ण शरीर में जाल की भाँति बिछी हैं। यहाँ तक कि फेफड़े पर भी इनका जाल बिछा है, जिनके द्वारा वह अशुद्ध रक्त संस्कारित होता है।

हृदय-ध्वनि

हृदय के आकुंचित और प्रसारित होते समय एक प्रकार का शब्द होता है, जिसे आधुनिक चिकित्सक लोग शब्द-ग्राहक यंत्र (स्टेथस्कोप)—द्वारा सुन कर उसकी परीक्षा करते हैं। शब्द तो नहीं; किन्तु हृदय की गति का ज्ञान हाथ रख कर भी अच्छी तरह किया जा सकता है। ऊपर से हाथ रखने पर इसका पता लगता

है। जिस तरह नाड़ी में एक प्रकार की टपकन होती है; हाथ रखने से किसी चीज के उभड़ कर चलने का ज्ञान होता है; उसी प्रकार हृदय पर हाथ रखने से भी ज्ञान होता है। ऊपर को स्पर्श होकर जिस समय नीचे को गति होती है, वही हृदय का प्रसारण है। साधारणतया स्वस्थ पुरुप के हृदय का आकुंचन और प्रसारण डाक्टर लोग एक मिनट में वहत्तर बार मानते हैं। अवस्था और रोग भेद से कम और अधिक भी होता है।

व्यायाम, मैथुन, परिश्रम, भय, आशा-निराशा और तत्काल प्रभाव पड़ने वाली घटना के समय स्वाभाविक गति से हमारे हृदय को अधिक काम करना पड़ता है। कामोन्मत्त प्राणी का हृदय भी अधिक शीघ्रता से काम करता है। इसके विपरीत शोक के समय, वहुत ही मंदगति से काम करता है।

स्वच्छ और शुद्ध वायु का प्रभाव हमारे हृदय पर अधिक होता है। जिस प्रकार शुद्ध वायु हमारे हृदय को पोषणशक्ति अधिक प्रदान करता है; उसी प्रकार अशुद्ध वायु से हमारा हृदय आकुल हो उठता है। शुद्ध वायु में हमारे शरीर के रक्त को शुद्ध करने की एक अद्भुत-शक्ति है। यही कारण है कि शुद्ध वायु में थोड़ी देर भी भ्रमण करने से जल्दी-जल्दी रक्त शुद्ध होता रहता है, और हमारा हृदय भी शान्ति पूर्वक अपनी क्रिया करता रहता है।

अशुद्ध वायु के संसर्ग से हमारे हृदय को बहुत ही जल्दी-जल्दी काम करना पड़ता है। फिर भी रक्त उतना शुद्ध नहीं होता,

और फेफड़े भी काम करते-करते थक-से जाते हैं। अशुद्ध वायु, हमारे हृदय और फेफड़ों को दूषित कर देता है और उससे रक्त में भयंकर विकार उत्पन्न हो जाता है। वही विकार रोगों का कारण बन जाता है। दूषित विकारों से ही फुफ्फुसावरण में भी विकृति आ जाती है। वही अन्त में राजयक्ष्मा का कारण बन जाती है; क्योंकि इसी फुफ्फुसावरण में प्रदाह होने से पार्श्व प्रदाह उत्पन्न होता है, और यही पार्श्व प्रदाह राजयक्ष्मा का प्रधान लक्षण है। जिस समय किसी स्वच्छ स्थान में स्वच्छ वायु के मिलने पर हम श्वास लेते हैं; उस समय श्वास के भर जाने से हमारी छाती फूल जाती है। फिर भी हृदय उतनी शीघ्रता से काम नहीं करता। किंतु इसके विपरीत यदि हम किसी अशुद्ध वातावरण में जाकर साहस करके श्वास खींच लेते हैं, तो हमारा हृदय भागते हुए भयभीत मनुष्य के हृदय की भाँति शीघ्रता से अपना काम करने लग जाता है।

गर्भिणी का हृदय

गर्भावस्था को ही दौहृद् कहते हैं। इस अवस्था में हृदय को अत्यधिक कार्य करना पड़ता है। उस समय उसे केवल एक ही के पोषण की चिंता नहीं रहती। माता और गर्भस्थ बालक, दोनों ही के लिए वह चिन्तित रहता है। प्रकृति ने माता के हृदय को इतनी शक्ति दी है कि वह उससे भी अधिक का पोषण कर

सकता है। किसी-किसी गर्भ में एक साथ दो बच्चे होते हैं, और वह उन तीनों का पालन करता है। प्रसव-काल से पहले प्रायः इस बात का निर्णय नहीं हो पाता कि एक बालक है अथवा दो। गर्भिणी के हृदय का दाहना ग्राहक और क्षेपक कोष्ठ प्रायः कुछ बढ़-सा जाया करता है। यह प्रायः स्वाभाविक भी मालूम पड़ता है; क्योंकि रक्तादान उन्हीं दो कोष्ठों को करना पड़ता है। जितना ही अधिक वह आदान करने की शक्ति रखेगा, उतना ही अधिक प्रदान भी कर सकेगा। ज्यों-ज्यों गर्भ अधिक दिनों का होने लगता है; त्यों-त्यों हृदय को अधिक भार सहन करना पड़ता है। उस समय गर्भस्थ बालक की परिपुष्टि के लिए भी अधिक रक्त देना पड़ता है; क्योंकि जब तक बालक थोड़े दिनों का रहता है, तब तक तो थोड़े-से पोषण से ही उसका काम चल जाता है। किंतु जब उसमें जीव आ जाता है, और वह परिपुष्टि की ओर अग्रसर होता है, तब उसके हृदय का भी ध्यान माता के हृदय को ही रखना पड़ता है। उस अवस्था में हृदय को अधिकाधिक क्रियाशील बनना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त जिस समय गर्भ बढ़ जाता है, उस समय वह हृदय ही की ओर बढ़ता जाता है, और उसे विशेष संकुचित करने लगता है। उस समय सभी आभ्यन्तरिक अंग अपने-अपने स्थान से कुछ इधर-उधर हट जाते हैं। उस समय न केवल माता के हृदय को ही विशेष काम करना पड़ता है; बल्कि उसके साथ

ही फुफ्फुस को भी विशेष काम करना पड़ता है। उस समय गर्भ के भार एवं हृदय की क्रियाशीलता से माता की श्वास-प्रश्वास क्रिया भी अधिक बढ़ जाती है। दूसरे गर्भस्थ बालक के हृदय का दूषित पदार्थ भी माता के फेफड़ों को ही बाहर निकालना पड़ता है। उसीके द्वारा उस गर्भस्थ बालक के रक्त का दूषित पदार्थ बाहर निकलता एवं प्राणप्रद वायु भीतर जाकर गर्भस्थ बालक का पोषण करता है। माता के द्वारा ही बालक की श्वास-प्रश्वास क्रिया भी होती रहती है।

हृदय और मस्तिष्क

शिरीय धमनी-द्वारा आनेवाला रक्त सीधे ऊर्ध्व महाशिरा-द्वारा बाएँ क्षेपक कोष्ठ में चला जाता है। हम जो कुछ सोचते हैं, उसका संबंध हमारे मस्तिष्क और हृदय से है। हमारे मन और मस्तिष्क का घनिष्ट संबंध है। अधोमस्तक की एक शिरा हमारे हृदय से सम्बन्ध रखती है। उस शिरा का फुफ्फुस और स्वर यंत्र तक से सम्बन्ध है। मस्तिष्क ही थक कर निद्रा लाने की चेष्टा करता है। निद्रा के समय मस्तिष्क पूर्ण विश्राम करने लगता है। किन्तु हमारे हृदय और फुफ्फुसादिक बराबर अपना काम किया ही करते हैं। उनका विश्राम लेना मृत्यु का कारण होता है; और मस्तिष्क का विश्राम न लेना उन्मादादिक रोगों का कारण बन जाता है। जिस समय निद्रा आने लगती है, उस समय सिर

में रक्त का संचार कम हो जाता है। शिरीय धमनी प्रसुप्तावस्था में आ जाती है। इसलिए उसकी कार्य-कारिणी शक्ति मन्द हो जाती है। रक्त का संचार भी कम हो जाता है। प्रसुप्तावस्था के कारण अंग-संचालन बंद हो जाता है; इसलिए हृदय भी अपना कार्य धीरे-धीरे करने लगता है। रक्त का वेग मंद हो जाने से उसकी ऊर्ध्वगति में भी शिथिलता आ जाती है। प्रायः भोजन के पश्चात ही निद्रा आने लगती है। उस समय भोजन कर लेने से प्रायः हमारा पित्त शांत-सा हो जाता है, और हृदय भी पूर्ण शांति से काम करने लग जाता है; तथा हृदय को कुछ अन्य शिराओं से भी रक्त विशेष रूप से नहीं मिलता। यही कारण है कि रक्त उस समय अधोगति को प्राप्त हो जाता है, और निद्रा आने लगती है। निद्रा से मस्तिष्क को पूर्णविश्राम मिल जाता है, और श्रांत चित्त भी हलका हो जाता है। इससे हमारी कार्य-कारिणी शक्ति को जीवन मिलता है, और हम पुनः उतने ही उत्साह के साथ कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं।

हृदय और रोग

सुख और दुख सहचर हैं। जो आज अच्छा है, सुखी है; वही कल दुखी दीख पड़ता है। हमारा हृदय तो महान कोमल है। उसमें जरा-सा आघात होने से बड़े-बड़े भीषण रोग उत्पन्न हो सकते हैं। दूसरे रोग और नीरोग तो शरीर का स्वाभाविक धर्म

है। अहित आहार-विहार के कारण हृदय की क्रियाशीलता में विकृति आने लगती है। यही विकृति हमारे जीवन को नष्ट कर देती है।

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः,
हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते।

कुपित हुए वातादिक दोष रस को दूषित कर हृदय में ले जाकरके बाधा उत्पन्न करते हैं। उसे हृद्रोग कहते हैं।

हृद्रोग में—खींचने, काटने, मन्थन करने और सुई चुभाने-जैसी भयंकर पीड़ा होती है। इसके अतिरिक्त हृदय-संबंधी अनेक रोग होते हैं। राजयक्ष्मा का भी हृदय से बड़ा सम्बन्ध है। अतएव हमें यदि अपने जीवन की रक्षा करनी है, तो सबसे पहले हृदय की रक्षा सावधानी के साथ करना परमावश्यक है। जिन-जिन कारणों से हृदय में विकृति उत्पन्न होती है, उन्हें छोड़ देना ही सबसे सुन्दर कल्याण का मार्ग है। जो कार्य हमारे हृदय को बाध्यकर अत्यधिक काम करने के लिए विवश करता हो, उसे भी छोड़ देना ही उचित है। अधिक भारी बोझ उठाने, बलवान् के साथ कुश्ती लड़ने, कूदकर चलने, नदियों में तैरने एवं वायु के प्रबलवेग में छाती खोलकर चलने से हृदयावरण फट जाता है। सुदृढ़ वस्तु को जोर से खींचने पर भी उसके फट जाने की संभावना रहती है। हृदयावरण के फट जाने पर पुनः प्रकृत रूप में उसका आना प्रायः असंभव ही है। कुछ लोग यहाँ पर यह शंका उपस्थित कर सकते हैं कि पहलवानों का हृदयावरण क्यों नहीं

फट जाता ? उनका हृदयावरण व्यायाम करने एवं कुश्ती लड़ने से क्रमशः मजबूत हो जाता है, और हृदय की पेशियाँ भी इतनी दृढ़ हो जाती हैं कि उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

उरक्षत और अन्य रोग विशेष में मुख से जो रक्त निस्सरण होता है; उसका संबंध हृदय और फुफ्फुस से होता है। किंतु रक्त-पित्त में जो रक्त निस्सरण होता है; उसका संबंध हृदय अथवा फेफड़े से अधिक नहीं होता। उसमें हृदय में क्षत नहीं होता। हृदय और फुफ्फुस में विशेष अंतर नहीं आता। केवल पित्त के अधिक बढ़ जाने से हृदय को अत्यधिक कार्य करना पड़ता है। शारीरिक ताप भी बढ़ जाता है, और रक्त उर्ध्वगामी होकर मुख से निकल जाता है। जिन व्याधियों का, हृदय अथवा मन से संबंध होता है, वे क्रमशः हार्दिक और मानसिक कही जाती हैं। हृदय को शक्ति पहुँचाने के लिए स्वर्ण अमूल्य वस्तु है। उसके बाद उसे उत्तम रत्न ही अधिक शक्तिशाली बना सकते हैं।

मानव-हृदय अगाध है एवं रहस्यमय है!

गूगुल

जब नगर की हवा कुछ दूषित हुई मालूम होती है, तथा रोग का बल बढ़ता हुआ दिखाई देता है, तब विद्वान् लोग हवन—होम— करते हैं। इससे हवा शुद्ध होती, रोगों के परमाणु नष्ट होते

और अक्सर रोगों के हमले तुरत वन्द हो जाते हैं। जिस घर में "वैश्य देव" यज्ञ नियमित होता है, उस घर के लोगों को किसी प्रकार के रोग होने का भय नहीं रहता। सुगन्धित वस्तुओं की सुगन्ध से वायु शुद्ध होकर मनुष्यों को नीरोग, वलवान और सुखी वनाता है। विशेष कर गूगुल की सुगन्ध, वायु को एकदम सुधारती है। कारण गूगुल जन्तुओं की नाशक है। गूगुल की धूप के सम्वन्ध में अथर्ववेद के १९ वें काण्ड के ३० वें मंत्र में लिखा हुआ है—

न तं यक्ष्मा अवरुन्धते, नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धोऽश्नुते॥

गूगुल सुगन्ध फैलाती है, उससे यक्ष्मा-क्षय इत्यादि व्याधियाँ पीड़ा नहीं पहुँचा सकतीं। तथा गूगुल की धूप लेने वाले को शाप या किसी के मारण, मोहन, उच्चाटन, मन्त्र-तन्त्र पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। वैद्यक ग्रन्थों में भी लिखा है—

कृमिपात भयाच्चापि धूपयेत् सरलादिभिः।×

गूगुल की धूप में अद्भुत जन्तु-नाशक शक्ति रहती है। वह शरीर में प्रविष्ट जन्तु को नष्ट कर रोगी का रोग दूर करती है। आजकल भारतवर्ष में क्षय रोग की अधिकता है। इस का मुख्य कारण देखने में आया है कि हम, अपने पूर्वज ऋषि-मुनियों की वताई हुई प्रणाली को त्याग रहे हैं, जिससे नए-नए रोग उत्पन्न

× सरला गुरुगुग्गुलुर्मिरिति चिकित्सासारसंग्रहे चक्रे वा॥

हो रहे हैं। गूगुल की धूप से क्षय आदि संक्रामक रोगों का नाश होता है; और जिस जगह ऐसी सुगंधित वस्तुओं को जलाया जाता है, वहाँ देवताओं का वास होता है। वायु शुद्ध होकर स्वास्थ्यकर वन जाता है। जहाँ का वायु शुद्ध और आनन्दमय होता है, वहाँ जीवन की वृद्धि होती जाती है। जहाँ का वायु अशुद्ध, मैला और दुर्गन्धयुक्त है, वहाँ के लोगों की अवस्था घटती है। शुद्ध वायु दीर्घजीवी वनाता है। रोगी मनुष्य को, प्रातःकाल गूगुल की सुगन्धित धूनी देने से, गूगुल उसके रोग को कुछ ही दिनों में भगाकर आरोग्य प्राप्त कराती है। विशेषकर चेपी रोग के कीटाणुओं को नाश करती है। इसलिए जिस जगह चेपी रोग हो, वहाँ गूगुल की धूनी निःसंदेह लाभदायक होगी। प्लेग, कालरा आदि रोग वाले की सुश्रूषा करने वाले को चेपी रोग से वचने की चिन्ता रहती है। वह गूगुल के धूप से दूर होती है, यह हमने अनुभव करके देख लिया है। गूगुल की धूप कई रोगों पर लाभदायक देखी गई है; खाँसी-जुकाम में गूगुल की धूप लेने से लाभ होते देखा गया है। इन्फ्लूएञ्जा फैलते समय गूगुल की धूप मुख में लेने से वह रोग चला जाता है। गूगुल की धूप को तम्बाखू की तरह पीने से क्षय रोग तथा शीत, दमा, खाँसी-श्वास, जुकाम इत्यादि दूर होते हैं। वैद्यक-शास्त्र में अनेक जगह गूगुल का धूम्रपान करना वताया है। उसमें लिखा है—शीशम, देवदारु, गूगुल, चन्दन, आदि सुगन्धित वस्तुओं की धूप कीटाण्ड की नाशक

है और चेपी रोग के रोगी को बचाती है। क्षय में भी धूप उपयोगी होती है। इन धूपों से रोग के हमले शान्त होते देखे गए हैं। सुगंधित द्रव्यों; जैसे—तुलसी, दमनक, चन्दन, देवचन्दन आदि के वृक्ष भी वातावरण सुधारने वाले हैं। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि धूप की प्रणाली जो हमारे यहाँ से नष्ट हो रही है, उसे फिर जिलाया जाय। घर में सुगंधित द्रव्यों की धूप देने से देवताओं का वास होगा और मनमाने आशीर्वाद मिलेंगे। वातावरण के शुद्ध होने से मस्तिष्क में अच्छे विचार उत्पन्न होंगे, और रोग दूर होकर सुख में सर्वदा वृद्धि होगी।

गूगुल की तरह लोबान की धूप न्यूमोनिया का एकमात्र उपाय है। डाक्टर लोग न्यूमोनिया में लोबान की धूप विलायती प्रणाली के अनुसार देते हैं। 'न्यूमोनिया केटल' में, टिंक्चर बेन्जाई की कंपाउंड डाल कर उसकी भाफ नली-द्वारा न्यूमोनिया के रोगी की नाक पर छोड़ी जाती है। वह दवा अंग्रेजी नाम की है; परन्तु इसमें लोबान ही मुख्य वस्तु है, और उसकी मीठी सुगन्ध का ही गुण है। यदि डाक्टर लोबान की धूप कहें, तो कदाचित् लोग ऐसा भी सोचें कि यह तो साधारण वस्तु है, इसमें क्या है? अस्तु। इसीलिए प्रति दिन अग्निहोत्र करने का शास्त्रकारों ने निर्देश किया है।

चूने की उपयोगिता

चूने से दीवार पोतना कब से प्रचलित हुआ, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगा; परन्तु ईंट और चूने के मकान बनाने, पत्थर को पकाकर चूना तैयार करके पान में खाने और अनेक दवाओं में व्यवहार करने का बहुत समय से प्रचार है। जिस तरह हमारी बहुत-सी दवाओं, रंगों और रसायन-विद्या (टेक्नेलॉजी) के वर्णन का पता नहीं लगता, वही हाल चूने का भी है। अब यह स्थिति परिवर्त्तित होती जा रही है। हमारी प्रक्रियाओं के सिद्धान्त अब प्रकाश-मय होकर निकलते आ रहे हैं।

चूना "कल्शियम एक्साइड" अथवा "कास्टिक-लाइम" दाहक है। इसे पानी में डालने से पानी गरम होकर खदबदाने लगता और खुला रहने से हवा में से कारबोलिक एडिस "गैस" खींचकर हवा को शुद्ध करता है, और स्वयं अशुद्ध; अर्थात्—"कल्शियम कारबोलिक" के रूप में, जिसे हम चाक कहते हैं, हो जाता है। चाक हो जान पर आप कितना ही पानी उस पर डालें, वह जरा भी गरम न होगा।

बहुत-से जीव-जन्तु इसी बुरी हवा "कार्वनडाइ ऑक्साइड" तथा "कारबोलिक एसिड गैस" के सहारे ही जीवित रहते हैं। हम नासिक-द्वारा जो हवा बाहर निकालते हैं, वह वही जहरीली हवा होती है। डबल रोटी बनाने वाले, आटे में जो खमीर उठाते

हैं, उसमें आटे के फूलते समय छोटे-छोटे खड्डे पड़ जाते हैं, वे "कारबोलिक एसिड गैस" से ही पड़ते हैं। बन्द कुँए या गढ़ों में भी ये प्रवेश करती हैं। यदि कुँए में पानी भरा हो, तो यह उसमें मिल जाती है और उसमें के कूड़े और चूने को (पानी में एक प्रकार का चूना मिला हुआ होता है, इसीसे यह "हार्ड-वाटर" कहलाता है। वह साबुन लगते ही चिकटा हुआ-सा हो जाता है।) अलग कर देती है। यदि पानी न हो, तो भी यह उसमें प्रवेश करके इकट्ठी होती रहती है, और किसी मनुष्य या पशु के वहाँ पहुँचने पर आक्रमण करती है; अर्थात्—वह उसके श्वास-द्वारा उसके शरीर में घुस जाती है। इससे वह बेहोश होकर मर जाता है। बहुत जगह पृथ्वी में छोटे खड्डे-से रहते हैं, उनमें भी यह "कारबोलिक एसिड" नाम की हवा रहती है। जब शुद्ध हवा उसमें प्रवेश करती है, तो यह बाहर निकलती रहती है। कोई पशु या पक्षी वहाँ आकर बैठता है, तो वह बेहोश हो मर जाता है।

इस कारबोलिक एसिड को चूना और कास्टिक सोडा बहुत जल्दी खींच लेते हैं। डाक्टर के कहने पर हम न्यूमोनिया वाले बीमार मनुष्य को ऑक्सिजन देने के लिए लोहे की नली लाते हैं। इस नली में ऑक्सिजन भरते समय, चूने या सोड़े को उसमें भर कर निकालते हैं। यह इसीलिए किया जाता है कि यदि इसमें कारबोलिक एसिड हो, तो चूना या सोडा उसे अपने प्रभाव से खींच लेगा।

जब रोगी को ऑक्सिजन दी जाय, तब चाहिए कि दीवारों को ताजे चूने से पोत दें। इससे उस मकान में, जहाँ रोगी है, ऑक्सिजन फैल जायगी; क्योंकि जो जहरीली हवा वहाँ पर प्रवेश करेगी, उसे चूना तुरन्त खींचकर शुद्ध कर देगा; अर्थात्—कारबोलिक एसिड तो दीवार में स्थित चूने से मिल जायगा, और वायु में के ऑक्सिजन आदि शुद्ध भाग रह जायँगे, वे रोगी को बहुत लाभदायक होंगे। यदि सोते समय चूने की डली सिरहाने रख दी जाया करे, तो बड़ा लाभ हो। यदि हमें किसी नए मकान में रहने की आवश्यकता आ पड़े, तो सबसे पहले उस मकान को ताजे चूने से पुतवा देना चाहिए। इससे हवा शुद्ध हो जाने के अतिरिक्त एक और यह बड़ा भारी लाभ होगा कि वे कीटाणु, जो विषैले हवा से पले हैं और जिनका कार्य, रोग उत्पन्न करना है, नष्ट हो जायँगे और हम रोगी होने से बचेंगे।

इसलिए हमारे लिए चूना केवल दीवार सफेद करने की ही वस्तु नहीं है; बल्कि वह वायु को शुद्ध करके हमें कई रोगों से बचाने वाला हमारा स्वास्थ्य-रक्षक है। हमलोग मकान को चूने से वर्ष में एक ही बार पुतवाते हैं, यह ठीक नहीं। हमें एक वर्ष में चार-पाँच बार मकान को ताजे चूने से अवश्य पुतवाना चाहिए। मकान पुतवाते समय इसका भी ध्यान रहे कि चूना गलाते समय किसी प्रकार का रंग या सरेस आदि उसमें न मिलाया जाय।

राजयक्ष्मा

यह रोग, कितना भयंकर होता है; इसकी कल्पना केवल नाम सुनकर ही हो जाती है। भयंकरता सोचकर कड़ा-से-कड़ा मानव-हृदय भी सिहर उठाता है। साथ ही जिसके पीछे यह पड़ जाता है, उसका तो सर्वनाश अवश्यम्भावी है। वास्तव में राजयक्ष्मा से विरला ही वच पाता है। इसके माने यह नहीं कि यह रोग होते ही असाध्य हो जाता है। वल्कि इसकी चिकित्सा उस समय आरम्भ की जाती है, जब रोग एकदम असाध्य की ओर अग्रसर हो जाता है। इसका कारण भारतीयों की स्वास्थ्य विषयक अनभिज्ञता और दरिद्रता ही है। यह रोग हर स्थिति के मनुष्यों को होता है। किन्तु धनिक, वैद्य-डाक्टरों को पैसा देना अपनी मूर्खता समझते हैं। गरीव तो गरीव ही हैं, वह वेचारा दे ही क्या सकता है? साथ ही इस रोग में साधारण नमक, हर्रे से काम भी नहीं चलता। साधारण औषधियाँ लाभ के वजाय हानि करती हैं। फिर इस युग में विना पैसे के सीधे वात करनेवाले चिकित्सक भी उँगलियों पर गिनने लायक ही हर जगह मिलते हैं। चिकित्सक वेचारे भी क्या करें; अमीर पैसा देने से रहे, गरीव दे नहीं सकता; फिर वह किसके घर से लाकर अपना और गरीवों का काम चलाएँ। पर्याप्त द्रव्य के विना रासायनिक औषधियाँ किसी प्रकार वन ही नहीं सकतीं।

यह छूत का रोग है। एक से दूसरे के पास पहुँच जाया करता है। इस रोग के विशेष कारण कीटाणु ही हैं। वैदिक काल से लेकर आजतक सभी चिकित्सा-शास्त्र इन कीटाणुओं को मानते आ रहे हैं। इसके लिए कृमि-निदान और कृमि-चिकित्सा का अध्याय ही आयुर्वेदिक ग्रंथों में है।

आजकल युवक-युवतियों को ही विशेषरूप से इसका शिकार बनना पड़ता है। इसके कारण वे सामाजिक कृमि हैं, जो अपनी सन्तान का जान-बूझ कर गला घोटते हैं। छोटी अवस्था में ही उनका विवाह कर देते हैं। हिन्दू समाज में वैवाहिक जीवन जितना ही सुखमय और आदर्श माना जाता था; आजकल वह उतना ही हेय और दुखमय बन गया है। उस छोटी अवस्था में विवाह होते ही घरवालों को बच्चा खेलाने का शौक चर्राता है। दोनों के लिए काफी साधन प्रस्तुत कर दिए जाते हैं। किसी-न-किसी भाषा का थोड़ा-बहुत ज्ञान होने पर हर तरह के कुरुचिपूर्ण उपन्यास-कहानियों का पाठ आरम्भ हो जाता है। मूर्ख होने पर साथी लोग हर तरह का ज्ञान कराने से बाज नहीं आते। जवानी की शुरूआत होती है, तरह-तरह की उमंगे हृदय में हिलोरें लिया करती हैं। झट वे अपनी उमंगों को पूरी करने लगते हैं। अपरिपक्वावस्था में ही रज और वीर्य का अपव्यय आरम्भ हो जाता है। क्रमशः मासिक-धर्म की खराबी, प्रदर और प्रमेह-जैसी भयंकर व्याधियों का शिकार बनना पड़ता है। सभी उमंगे नष्ट

हो जाती हैं। जीवन, भार और दुखमय बन जाता है। येही रोग कमजोर कर राजयक्ष्मा का शिकार बना देते हैं। दो में से एक को संसार छोड़ना पड़ता है। फलतः एक का जीवन महान् कष्ट-कारक हो जाता है। वह घुलकर मरता और देखनेवाले तरस खाते हैं। उसका अकेला बचा जीवन कष्टस्थल बन जाता है। इसके अतिरिक्त इस रोग की सबसे बड़ी सहायिका आजकल की विषैली पाश्चात्य सभ्यता है। इसने मनुष्य के रहन-सहन को इतना बड़ा जंजाल बना दिया है कि वह रात-दिन चिन्ता में ही घुला करता है। आय से अधिक व्यय करके भी दुःखी ही बना रहता है। इन्द्रिय-सुख के लिए तरह-तरह के मादक पदार्थों का सेवन भी अत्यन्त हानिकारक है। नीचे लिखे प्रमाणों से यह अवश्य सिद्ध हो जायगा कि ये सभी बातें कितनी सत्य हैं।

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मागदो हेतु चतुष्टयात्॥

सब प्रकार के वेगों को; जैसे—मल-मूत्र, रोना-हँसना, गाना-नाचना आदि रोकने से अर्थात्—अपनी इच्छाशक्ति को दबाने से, धातुक्षय अर्थात—वीर्य क्षय होने से, साहस करने अर्थात्—अपनी शक्ति से बड़ा काम करने से और विषम भोजन करने—इन चार कारणों से त्रिदोष—वात, पित्त, कफ—कुपित होकर यक्ष्मा-रोग पैदा करते हैं।

ये सब कारण इस रोग की उत्पत्ति के बताए गए हैं; किन्तु

आजकल विशेष रूप से प्रधान कारण धातुक्षयवाला ही मिलता है। अन्य तीन कारण गौण रूप हैं। अब यह बतलाना आवश्यक है कि वह कुपित त्रिदोप क्या करते हैं।

कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु।
अतिव्यवायिनो वापि क्षीणे रेतस्यनन्तराः॥
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः।

कफ प्रधान वातादिक दोष, रसवाहिनी धमनियों के मुख को रोककर अथवा अत्यन्त मैथुन करनेवाले का वीर्य, क्षीण होकर समीपवर्ती अन्य धातुओं का क्षय करते हैं। उसके बाद मनुष्य सूखता, अर्थात् दुर्बल—कृश—होता है।

यहाँ से इस रोग के दो विभाग हो जाते हैं। एक को अनुलोम क्षय और दूसरे को विलोम क्षय कहते हैं। अनुलोम क्षय उसे कहते हैं, जिसमें अन्य किसी कारण विशेप से कुपित हुआ दोष रसवाही धमनियों के मार्ग को रोककर रस-क्षय करे। इसमें पहले रस, रस के बाद रक्त, रक्त के बाद मांस और मेदादिक धातुओं का क्रम से क्षय होता है। अन्त में शुक्र-क्षय होता है। यह बालक से वृद्ध तक, सभी अवस्थावाले को होता है।

विलोम क्षय उसे कहते हैं, जिसमें सबसे पहले अति मैथुन के कारण शुक्र-क्षय होता है। इसमें शुक्र के बाद मज्जा, मज्जा के बाद अस्थि-मेदादिक धातुओं का क्षय होता है। अन्त में रस-क्षय होता है। यह जवान या वृद्ध को ही होता है। जिसका वीर्य-क्षय न

होगा, उसे विलोम क्रम का क्षय नहीं हो सकता। किन्तु आज कल विलोम क्षय ही विशेष दिखाई पड़ता है।

राजयक्ष्मा का ही नाम शोष भी है। जिससे मनुष्य सूखे उसे शोष कहते हैं। उपर्युक्त कारणों से मनुष्य सूखता है; इस लिए उसका नाम शोष सार्थक है। क्षय में पहले निम्नलिखित लक्षण होते हैं—

श्वासाङ्गमर्दकफसंस्रवतालुशोष ,
वम्यग्निसादमदपीनसकासनिद्राः ।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः ;
शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसु ॥

श्वास, अंग में पीड़ा, कफ-गिरना, तालु-सूखना, वमन, अग्नि-मांद्य, नशा मालूम पड़ना, जुकाम, खाँसी, निद्रा न आना, नेत्रों का सफेद हो जाना, मांस खाने की इच्छा करना और स्त्रियों में रमण करने की इच्छा; आदि लक्षण राजयक्ष्मा के पूर्वरूप माने गए हैं।

इस रोग की यह आरम्भिक अवस्था है; किन्तु इस अवस्था में चिकित्सा के बजाय उपेक्षा से काम लिया जाता है। पुरुषों की चिकित्सा चाहे हो भी जाय; किन्तु स्त्रियों की चिकित्सा, तो किसी प्रकार नहीं होती। बराबर रोग को भयंकर बनने का अवसर दिया जाता है। यह जब बढ़कर अपना भयंकर रूप दिखाता है; उस समय बड़े-बड़े चिकत्सकों के पैर फूल जाते हैं। कहा है—

स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठा।
गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च॥
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलांश्च-पश्येत्।
शुष्कांस्तरून् पवनधूमदवार्दितांश्च॥
अंसपार्श्वाभितापश्च संतापः करपादयोः।
ज्वरः सर्वाङ्गश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः॥

स्वप्न में—कौआ, सुग्गा, साही, नीलकण्ठ, गृध्र, वानर और केकड़ा आदि पर चढ़कर घूमने का अनुभव करे; सम्पूर्ण नदियाँ सूखी दिखाई पड़ें; सूखे वृक्ष—हवा, धुआँ और वनाग्नि से जलते दिखाई पड़ें; कंधा, पसुली में अभिताप; हाथ-पैरों में जलन; सर्वाङ्ग-व्यापी ज्वर; आदि लक्षण राजक्ष्मा में होते हैं। उपर्युक्त लक्षणों के मिलने पर यह रोग कठिन हो जाता है, और शीघ्र ही असाध्य की ओर अग्रसर होने लगता है।

स्वरभेद, वातजन्यशूल, कंधा और पसली में सङ्कोच, ज्वर, दाह, अतिसार, रक्तपित्त, सिर का भारीपन, भूख न लगना, खाँसी और कण्ठ में कफ की खरखराहट। अथवा अन्न में अरुचि, ज्वर, श्वास, खाँसी, रक्त का कफ के साथ गिरना और स्वरभेद। अथवा खाँसी, श्वास और रक्त-विकार। जिस रोगी में उपर्युक्त ग्यारह, छः अथवा तीन लक्षण मिलें; वह क्रम से असाध्य और कष्ट साध्य है। वह चिकित्सा योग्य भी नहीं रह जाता। साथ ही जिस रोगी में यह कोई भी लक्षण न मिलते हों और बल-

मांस का परिक्षय हो गया हो, उसे एकदम असाध्य समझना चाहिए। बल-मांस के परिक्षय के बाद स्वयं वह असाध्यावतार हो जाता है। उस समय इन लक्षणों की आवश्यकता ही क्या ?

कम-से-कम मैं स्वयं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि यक्ष्मा के असाध्य रोगी बहुत ही कम साध्य हुए हैं। इस रोग वाले के लिए यही बड़ी बात है कि जिस समय रोग साध्य रहता है; उसी समय चिकित्सा कर आरोग्य लाभ कर ले। अन्यथा असाध्यावस्था में साध्य का स्वप्न कैसा ? इस रोग के लिए वैद्यक शास्त्र में लिखा है—

परं दिन सहस्रन्तु यदि जीवति मानवः ।
सुभिषक्‌भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीड़ितः॥

अच्छे वैद्य की चिकित्सा होने पर नवीन राजयक्ष्मा का रोगी एक हजार दिन; अर्थात् तीन वर्ष तक जीवित रहता है।

सबसे बड़ी बात इस रोगवाले के लिए विचारणीय चिकित्सा की है। चिकित्सक एवं रोगी को दो बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। (१) किसी प्रकार रोगी के वीर्य का क्षय न हो, वह किसी तरह दुर्बल न होने पाए। (२) मल—दोष (वात, पित्त, कफ) और पुरीष भाग; अर्थात् किसी प्रकार का ऐसा उपचार न किया जाय, जिससे अधिक दस्त हो और शिथिलता आए। कफ के निकालने का भी प्रयत्न न किया जाय। कफक्षय के कारण भी दुर्बलता आती है। इसलिए कफ और पुरीष दो ही यक्ष्मी के

जीवनरक्षक हैं। यक्ष्मी का वात, पित्त, कफ अथवा पुरीष तक ही बल है, और वीर्य तक ही जीवन है। इसके साथ ही खान-पान और रहन-सहन का ध्यान भी आवश्यक है।

ऐसे रोगी को सदैव ताजा, सादा, हलका और किञ्चित् स्निग्ध भोजन ही देना चाहिए। हरे शाकों और दोनों प्रकार—हरे-सूखे—के फलों का व्यवहार विशेष लाभदायक होता है। फलों के लिए मौसम का ध्यान रखना बहुत जरूरी है। गरमी और बरसात में हरे एवं जाड़े के दिनों में सूखे फल विशेष लाभदायक सिद्ध हुए हैं। दोनों समय जल गरम करके ही पीना लाभकारी है। बकरी या गाय का दूध, समभाग जल मिलाकर पकाया हुआ, केवल दूध बाकी रहने पर ही पीना चाहिए। इस रोग में गाय की अपेक्षा बकरी का दूध विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ है। कचनार, लिसोड़ा और सहिजन आदि के फूलों का पथ्य भी गुणद है। एकबार एकदम खाने की अपेक्षा दिन में कई बार थोड़ा-थोड़ा खाना विशेष लाभदायक होता है। घी हानिकारक और दुग्ध लाभदायक है। पान, इलायची, सौंफ और थोड़ी सुपारी खाना लाभप्रद है।

समुद्रतट का निवास इस रोग के लिए अत्यन्त हितकारी है। इसके अभाव में पहाड़ और उसके अभाव में शहर से बाहर जहाँ का जल-वायु शुद्ध हो; मच्छड़ों का भय न हों; किसी नदी का तट हो, तो अधिक उत्तम है। नीम, बड़, पीपल, लिसोड़ा, गुलाब, जुही, बेला, तुलसी आदि के वृक्ष अवश्य लगे हों। अधिक आद-

मियों का आना भी हानिकारक है। वह स्थान बस्ती से अधिक दूर होना चाहिए। ऋतु के अनुसार कपड़े पहनने चाहिएँ; किन्तु जाड़े के दिनों में रुई के कपड़ों का उपयोग करना चाहिए, ऊनी का नहीं। ऊनी कपड़ों में रक्त-शोषण की विशेष शक्ति होती है, और यह इस रोग के लिए विशेष हानिकारक है। रोगी के व्यवहार के सभी कपड़े साफ, धुले हुए हों; फिर भी चौथे-पाँचवें उन्हें धूप दिखा दी जाया करे। सूर्य की किरणों से यक्ष्मा के कीटाणु बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

वहाँ पर मनोरंजन की सामग्री भी यथेष्ट मात्रा में प्रस्तुत रहनी चाहिए। किन्तु उसमें ऐसी कोई व्यवस्था न हो जिससे रोगी का चित्त विषय-वासना की ओर जाय। उसे हर समय प्रसन्न रखने की चेष्टा करनी चाहिए। कोई ऐसा कार्य अथवा संवाद न कहा जाय, जिससे रोगी को कष्ट होने की संभावना हो। चिंता, क्रोध, शोक और भय आदि से एकदम बचाना चाहिए। रोगी की अवस्था चाहे कितनी ही खराब हो; किन्तु उसे ऐसा विश्वास दिलाना चाहिए; जिसमें वह समझे की मेरा रोग उत्तरोत्तर ठीक हो रहा है, और यथाशीघ्र मैं आरोग्य लाभ करूँगा। रोगी को हर समय ऐसे व्यापार में लगाए रहना चाहिए, जिसमें वह अपने कष्ट का अनुभव न कर सके। साथ ही उसे इतना हँसाना चाहिए, जितने में किसी प्रकार, गले में खुश्की न पैदा हो जाय। हँसने से रक्त में गरमी पैदा होती है। फेफड़े का विकार निकल जाता है,

और उसकी ठीक-ठीक क्रिया होती है। शक्ति के अनुसार मुक्तवायु में थोड़ा-थोड़ा सुबह-शाम टहलना भी चाहिए।

सबसे जरूरी चीजें इस रोग में परिचारक और परिचारिका हैं। यदि यह उपयुक्त नहीं हैं, तो निश्चय ही सब साधन व्यर्थ होंगे। पहले बताया जा चुका है कि इस रोग में कामशक्ति विशेष होती है। रोगी, स्त्री की; और रोगिणी, पुरुष की विशेष इच्छा करती है। इसका कारण केवल दुर्बलता है। इसलिए रोगी के लिए परिचारक और रोगिणी के लिए परिचारिकाएँ रखी जायँ। अथवा जिनसे माता-बहन, भाई और पिता आदि का सम्बन्ध हो, वेही इस काम में विपरीत रूप से रखे जा सकते हैं। अन्य नहीं। सबसे अच्छी परिचारिकाएँ वृद्धा नर्सें होती हैं। परिचारक आदि रोगी के अनुकूल हों। प्रतिकूलता का आभास मिलते ही तुरत बदल दिए जायँ।

प्रातःकाल सबसे पहले पाखाना आदि से निवट कर झट दातुन कर लें; उसके बाद बकरी के धारोष्ण दूध में शुद्ध शहद मिश्री, पीपर का चूर्ण और सतावर का रस मिला कर पी जाना चाहिए। सीतोपलादि चूर्ण तथा अडूसे का रस भी शहद के साथ लाभकारी है। इन्हीं चीजों के साथ क्रमशः अभ्रकभस्म और बृहत्श्वासचिन्तामणि रस देने से विशेष लाभ होता है। चन्द्रामृत रस, च्यवनप्राश अवलेह भी रोग की अवस्था विशेष पर दिए जा सकते हैं। ज्वर की तीव्रता होने पर महाज्वरांकुश रस और अभ्रक-

भस्म की दो मात्राएँ दिन में तुलसी के रस के साथ देनी चाहिएँ। कालकर्वरी गुटिका हर समय मुख में रखकर चूसने को दी जाय। अधिक आवश्यकता पड़ने पर महाराजमृगाङ्क की दो मात्राएँ मुलेठी के चूर्ण और शहद के साथ सुबह-शाम दी जायँ। इस रोग के लिए इससे बढ़कर अन्य औषधि नहीं है। आवश्यकतानुसार वसन्तमालती, स्वर्ण-मुक्ता तथा अन्य रत्नों का उपयोग करना चाहिए। वनौषधियों में अडूसा सबसे अधिक लाभदायक है। रस औषधियों के बिना चिकित्सा करने से भाग्य पर छोड़ना ही उत्तम है।

हैजा

हैजा एक महाभयंकर और शीघ्र-विनाशकारी व्याधि है। इसके आक्रमण से प्रायः अस्सी प्रतिशत मनुष्य मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। कभी-कभी इसकी उग्रता के कारण अल्पसमय में ही परलोक-यात्रा करनी पड़ती है। इसे संस्कृत में विसूचिका, अँग्रेजी में कालरा और बोलचाल में हैजा अथवा कै-दस्त की बीमारी कहते हैं।

कुछ चिकित्सा-शास्त्र के कोरे विद्वान् हैजा और कालरा में भेद मानते चले आ रहे हैं। किन्तु पूर्वी और पाश्चात्य चिकित्सा-विशारदों के कथन एवं प्राचीन और अर्वाचीन पुस्तकों के तुलनात्मक-अध्ययन ने यह सिद्ध कर दिया है कि हैजा और कालरा में

कोई अन्तर नहीं है। चीज एक ही है, भाषा से नाम में भिन्नता है। आयुर्वेद में जिन लक्षणों-द्वारा विसूचिका-रोग निर्धारित किया जाता है, उन्हीं लक्षणों के मिलने से डाक्टर लोग कालरा नाम-करण करते हैं। यह रोग कीटाणुओं के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी होता है। आयुर्वेद में इसका प्रधान कारण अजीर्ण माना गया है। कहा है—

अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते ये प्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि॥
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका।

अधीर होकर पशु की नाईं, अप्रमाण भोजन करने से रोगों के समूह अजीर्ण रोग को मनुष्य प्राप्त होता है और उस अजीर्ण से विसूची, अलसक और विलम्बिका रोग होते हैं।

विसूचिका, अलसक और विलम्बिका रोग में विशेष अन्तर है। अलसक की अपेक्षा विलम्बिका और विसूचिका यथाक्रम से भयंकर होते हैं। किन्तु विसूचिका महान् भयंकर व्याधि है। इन तीनों का कारण अजीर्ण ही है। परन्तु तीनों के लक्षणों में बहुत अन्तर है। चिकित्सा में विशेष अन्तर नहीं है। इसी प्रकार चिकित्सा-शास्त्र से अनभिज्ञ स्वानुभवी चिकित्सक लोग कालरा और विसूचिका में महान् अन्तर की गाथा गाते हैं।

अब विचारणीय विषय कीटाणुओं का है। पहले इस रोग की उत्पत्ति अजीर्ण से ही होती है; किन्तु पीछे चलकर कृमि अवश्य

हो जाते हैं। इसके साथ ही एक बात और सम्भव है—अर्थात् जल या किसी खाद्य-पदार्थ अथवा पेय वस्तु के साथ कृमि, उदर में जाकर पहले अजीर्ण पैदा करते हों, और बाद में वही अजीर्ण विसूचिका पैदा करता हो, यानी विसूचिका का कारण अजीर्ण हो जाता हो और अजीर्ण का कारण वे कृमि हो जाते हों। पहले यह एक ही दो आदमियों को होता है। उसके बाद देखते-देखते, तृण-राशि में सूक्ष्म अग्नि-कण पड़ जाने के समान भयंकर उग्ररूप धारण कर लेता है। साथ ही यह वहीं पर अधिक होता है, जहाँ पहले इसका ध्यान नहीं दिया जाता और खूब गन्दगी फैलने दी जाती है। जहाँ रोगी का दस्त और कै खुला ही बाहर फेंक देते हैं या कपड़े में लग जाने पर उसे उसी तरह उठाकर रख देते हैं।

अब कीटाणुओं की भी पुष्टि हो जाती है। इस बात से तो कोई भी विद्वान् चिकित्सक इनकार नहीं कर सकता कि उस पाखाने या कै में कृमि नहीं रहते! अवश्य रहते हैं। अस्तु! जब वे खुले रहेंगे, तो स्वाभाविक है कि वे कहीं-न-कहीं अवश्य फैलेंगे। बस, वे मौका पाकर जमीन पर लेटने से लेकर खाने-पीने की चीजों एवं पहनने के कपड़ों तक में जा लगते हैं। कुछ बड़े समझ-दार लोग तो यहाँ तक अपनी बुद्धि का परिचय देते हैं कि उस गन्दे-मैले कपड़े को लेकर किसी ऐसे जलाशय में धो देते हैं, जिससे वे कृमि जल-द्वारा अनेक जीवधारियों के पेट में पहुँच अपना कार्य कर शीघ्र ही उसे नष्ट कर दूसरे की चिन्ता करते हैं।

बहुत अंशों में यही बात माननी पड़ेगी कि अजीर्ण के कारण कृमि ही हैं; क्योंकि गरमी के दिनों में होनेवाले विसूचिका रोग को छोड़कर अन्य मौसम में प्रायः जल-वायु के विकृत होने ही से यह रोग होता है। सूक्ष्म विचार करने से सहज ही सब बातें समझ में आ जायँगी। प्रायः तीर्थ-स्थानों में उस समय इस रोग का प्रकोप होता है, जब कोई ऐसा पर्व होता है, जिसमें सम्मिलित होने के लिए देश-देशान्तर से लोग अत्यधिक संख्या में आकर एकत्रित होते हैं। उस समय अधिक ध्यान रखने पर भी नगरों की सफाई में व्यतिक्रम हो ही जाता है। फलतः जल-वायु की शुद्धता नष्ट हो जाती है। अधिक दिनों तक उन लोगों के रह जाने पर एक बार जहाँ इस रोग का आक्रमण नगर पर हो गया कि बस, कुछ दिनों तक वह बराबर जारी रहता है। इसी प्रकार फलों के मौसम में भी होता है। प्रायः सड़े-गले, सभी दशा में फल खरीदे और खाये जाते हैं। जैसे—आम और पका कटहल आदि—वे भी इस रोग के आक्रमण के कारण हैं। पूरब के कुछ आम तो बरसात तक में भी बिका करते हैं। किन्तु बरसात में उन आमों में बहुत ही सूक्ष्म कृमि पड़ जाया करते हैं। अनभिज्ञता से लोग उन्हें भी खा जाया करते हैं। अस्तु। ये ही कृमि विसूचिका के कारण होते हैं।

बरसात में ऐसे कुएँ का जल पीने से—जिसके पास ही गोबर, कूड़ा-करकट आदि चीजें सड़ा करती हैं—विसूचिका रोग हो जाता

है; क्योंकि उस सड़े हुए गोबर और कूड़ा-करकट के द्वारा कृमि पैदा होते हैं, और वे कृमि हैजा और मैलेरिया के कारण होते हैं।

गरमी के दिनों में हैजा होने के मुख्य दो कारण हैं—एक तो अधिक जल पीना; दूसरे बिना जल पिये धूप और लू में जाना। कहा है—

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च संधारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च।
कालेऽपिसात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य॥

अत्यन्त जल पीने, विषम भोजन करने, मल-मूत्रादिक के रोकने और निद्रा-विपर्यय होने से; उचित समय में काल और ऋतु के अनुकूल किया हुआ भोजन भी ठीक तौर से हजम नहीं होता। एक तो यों ही भोजन करने के बाद स्वभावतः गरमी मालूम पड़ती है। दूसरे, गरमी के दिनों में भोजन करने के बाद तो अत्यधिक प्यास लगती ही है। बार-बार पानी पीने से भोजन नहीं पचता। जठराग्नि बिगड़ जाती है। अन्त में अजीर्ण होकर विसूचिका हो जाता है। मानव-शरीर के लिए आवश्यकता से अधिक भोजन और जल मिलने से पाचक पित्त शक्तिहीन होकर, उसका ठीक-ठीक परिपाक करने में असमर्थ हो जाता है। दूसरे कारण पर भी विचार करना आवश्यक है। जल के आवेग से ही सम्पूर्ण स्नायुओं में रक्त-प्रवाह यथागति होता रहता है, और फेफड़ों को पूरा-पूरा रक्त मिलता रहता है। पानी पिये बिना घाम और लू में जाने से शेष उदरस्थ जल भी लू के कारण शुष्क हो

जाता है। उसके बाद जल न मिलने से वह गरमी रक्त की तरलता का भी शोषण करती है। अन्त में फेफड़े भी सूखने लगते हैं, और भयंकर विसूचिका रोग हो जाता है।

इस रोग के प्रसार में मक्खियों ने भी अधिक सहायता पहुँचायी है। जो मक्खियाँ विसूचिका रोगी के दस्त-कै पर अथवा अन्य गन्दी चीजों पर बैठती रहती हैं, वे ही खाने-पीने की चीजों पर भी बैठ जाया करती हैं। इस प्रकार वे गन्दी चीजों का विशाक्त अंश भोज्य वस्तुओं में भी सन्निविष्ट कर देती हैं। अति सूक्ष्म कृमियों को भी इनके अवयवों में चिपटकर अच्छे-अच्छे पदार्थों में मिल जाने का सुअवसर मिल जाता है। इसीलिए सम्पूर्ण स्थानों में, भोज्यपदार्थों को आच्छादित रखने का ही उपदेश मिलता है। उचित भी यही है। मानव-जीवन के लिए भोजन की स्वच्छता और शुद्धता कितनी आवश्यक है, इसे सभी लोग समझ सकते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि इन मक्खियों से भोज्य-पदार्थों की उचित रक्षा की जाय।

यह रोग, एक से दूसरे के पास, रोगी के परिचारक, पहनने के कपड़े, सूँघने या खाने-पीने की वस्तुओं से पहुँच जाया करता है। आयुर्वेद-शास्त्र में इसकी गणना संक्रामक रोगों में की गई है।

इसके साथ ही यह भी समझ लेना आवश्यक है कि विसूचिका, अलसक अथवा विलम्बिका किन लक्षणों द्वारा चिह्नित होते हैं। इनका पूर्वरूप क्या है? विसूचिका-रोग में पहले ये लक्षण होते हैं—

सूचीभिरिवगात्राणि तुदन्सन्तिष्ठतेऽनिलः।
यस्याजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते॥

जिस अजीर्ण में शरीर में सुई चुभाने-जैसी पीड़ा करके वायु स्थित हो, उसे विसूचिका कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों-द्वारा विसूचिका रोग मालूम किया जाता है। किन्तु जिस समय उसका पूर्णरूप से आक्रमण हो जाता है; उस समय मूर्च्छा, अतीसार, वमन, पिपासा, उदर-शूल, भ्रम, शरीर में पीड़ा, जम्हाई, दाह, विवर्णता, हृदय और सिर में पीड़ा भी होती है। अधिक दस्त होने के कारण मूत्राशय में मूत्र बनकर नहीं आता और वस्ति-स्थान शुष्क होने से मूत्रोद्गम नहीं होता।

जबतक सम्पूर्ण दोष पच नहीं जाते, तबतक पुनः मूत्रोद्गम नहीं होता। इस रोग में मूत्र-दर्शन दोष-परिपाक का लक्षण है। किसी-किसी को दोष-परिपाक के समय ज्वर भी आ जाया करता है। उस ज्वर से किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। केवल रोगी को जरा सम्हालकर रखना चाहिए, अन्यथा त्रिदोष हो जाने का भय रहता है। यह विसूचिका रोग की द्वितीय अवस्था है और इसे कष्टसाध्य समझना चाहिए। इस अवस्था की किंचित उपेक्षा भी महान् हानिकारक होती है। उस समय औषध और उपचार में किसी प्रकार भी विलम्ब न होने देना चाहिए; क्योंकि यह रोग क्षण-भर में बढ़ता और दिनों में घटता है। इसकी असाध्यता के विषय में कहा है—

यः श्यावदन्तौष्ठनखोल्पसंज्ञो वम्यर्दितोभ्यन्तरयातनेत्रः।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सो पुनरागमाय ॥

जिस रोगी के दाँत, होठ और नख काले हो गए हों, वमन से अत्यन्त पीड़ित हो, नेत्र भीतर घुस गए हों, स्वर क्षीण हो गया हो और सम्पूर्ण सन्धि-स्थान अपनी क्रियाशीलता से मुक्त हो गए हों—ऐसा रोगी निश्चय ही मर जाता है।

इस रोग के रोगी की यह अन्तिम अवस्था है। मैंने स्वयं सहस्राधिक रोगियों को इस दशा में देखकर अनुभव किया है कि जिस रोगी में असाध्यता के उक्त सम्पूर्ण लक्षण मिल जाते हैं, वे निन्नानवे प्रतिशत अवश्य मर जाते हैं। किन्तु सद्यःफलदायिनी चिकित्सा न करने से ही रोग इस अवस्था को पहुँचता है। फिर भी यदि असाध्यावस्था में उत्तम चिकित्सा की जाय, तो एक बार अच्छे लक्षण मालूम पड़ने लगेंगे। बहुत सम्भव है कि आयुर्बल के जोर से रोग-मुक्ति भी मिल जाय। कभी-कभी एक ही दो कै-दस्त के बाद असाध्यता के लक्षण दृष्टि-गोचर होने लगते हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं; बल्कि दोष-बाहुल्य का कारण है।

विसूचिका के रोगी की परिचर्या और दवा-दारू के विषय का ज्ञान भी रखना अत्यावश्यक है। विसूचिका के रोगी को एक ऐसे कमरे में रुई के गरम गद्दे पर लिटाएँ, जहाँ पूर्ण शान्ति हो और निद्रा आने पर कोई बाधा न पड़े। बोतलों में गरम पानी भरकर पेट पर धीरे-धीरे घुमाएँ। रोगी को बार-बार ढाढ़स बँधाएँ।

उसके दस्त और कै को तुरन्त वहाँ से साफ़ कर दिया करें। यदि जमीन पर ही दस्त-कै हो जाय, तो उसे धोकर फिनाइल का प्रयोग करना बहुत ही आवश्यक है। साथ ही एक कोने में कोयले की आग में गूगुल, लोवान, एवं सफेद चन्दन का चूरा छोड़कर धीरे-धीरे कमरे को सुगन्धित करता रहे। रोगी की चारपाई पर बेला, चमेली, जुही, गुलाब और अन्य ऐसे ही सुगन्धित पुष्पों के हार, कपूर, नीबू, नीबू की पत्ती, खस का इत्र या ऐसे ही सुगन्धित पदार्थ रक्खे, जिससे रोगी का ध्यान उनकी ओर खिंचकर रोग की वेदना से परांमुख हो जाय; रोग-जनित पीड़ा का विशेष अनुभव ही वह न करे। गरमी मालूम पड़ने पर ताड़ अथवा कपड़े के पंखे से धीरे-धीरे हवा की जाय। तेज या बाहर की हवा से रोगी को बचाया जाय। पैर के तलवे धीरे-धीरे सफेद कपड़े से सहलाए जायँ, जिससे उसे शान्ति मिले। किन्तु शरीर की वेदना शान्त करने के लिए कदापि शरीर दबाया न जाय और न तेल की मालिश ही की जाय। कुछ लोग पेशाब लाने के लिए सलाई आदि का प्रयोग करते हैं; किन्तु यह प्रयोग सर्वथा निंद्य और बुद्धिमत्ता के विरुद्ध है। बाह्य उपचार करने में कोई हानि नहीं है; परन्तु जब तक दोष पाचनावस्था में न आ जायँ, बाह्य प्रयोग भी पेशाब लाने के लिए निरर्थक हैं—व्यर्थ समय और मस्तिष्क-शक्ति का अपव्यय करना है। यदि किसी कारण-वश असमय या समय किसी भी दशा में मूत्र लाने के लिए औषध

का प्रयोग करना पड़े, तो सींक का जीरा, कलमीशोरा, चौकिया सोहागा और जवाखार गरम पानी के साथ महीन पीसकर बस्ति-स्थान पर हलका लेप करना चाहिए। किन्तु किसी औषध विशेष को खिलाकर पेशाब लाने का उपाय बहुत ही हानिकारक होता है।

अधिक मात्रा में पानी भी न पिलाना चाहिए। पानी के स्थान पर सौंफ का अर्क अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। सौंफ पाचक है, और उसका वाष्पज जल अत्यन्त हलका होने से शीघ्र पचता और दोषों के पचाने में भी विशेष सहायक होता है। यदि किसी समय सौंफ का अर्क दुष्प्राप्य हो, तो उस समय सौंफ और बाय-बिडंग जल में पकाया जाय; आधा शेष रह जाने पर ठंढा करके थोड़ा-थोड़ा पीने को दिया जाय। बड़ी इलायची बीच-बीच में तृषा-शान्ति के लिए दी जा सकती है। अधिक भयंकर अवस्था में धनियाँ, सौंफ, बड़ी इलायची, बायबिडंग, नागरमोथा और नारि-यल की जटा सबको थोड़ा-थोड़ा डालकर पकाया जाय और आधा शेष रहने पर ठंढा करके पिलाया जाय। इससे पिपासा-शान्ति के साथ-ही-साथ दोष-पाचन में भी विशेष सहायता मिलती है। गरमी और लू लगने से जिस हैजे की उत्पत्ति होती है, उसमें पानी अथवा सौंफ के अर्क के स्थान पर मीठे अनार का रस भी दिया जा सकता है; किन्तु अन्य में नहीं। वह भी दिन में ग्यारह बजे से तीन बजे तक ही दिया जा सकता है। बाकी समय में अनार के रस से कफ बढ़कर हानि की सम्भावना हो जाती है।

नारियल की जटा, बड़ी इलायची, मोरपंख, नागरमोथा, सौंफ, धनियाँ, लौंग, जायफल, रेशम की ढोड़ी, भाभीरंग, कपूर-कचरी, पुदीना, अजवाइन, कपूर और मीठा इन्द्रजव इस रोग के लिए विशेष लाभकारी सिद्ध हुए हैं। इन ओषधियों के साथ ही रसादिक का भी प्रयोग किया जा सकता है। उनकी समयानुसार आवश्यकता होती है।

(१) एक माशा नारियल के जटा की राख, एक बड़ी इलायची का छिलका जलाकर, एक मोरपंख जलाकर, पाँच दाना इन्द्रजव और पाँच दाना भाभीरंग—सबका महीन चूर्ण बनाकर शहद के साथ दो-दो घंटे पर चटाएँ। वमन का प्रखर वेग होने पर इसी के साथ अभ्रक अथवा प्रवाल-भस्म की एक रत्ती की मात्रा देनी चाहिए। किसी-किसी को केवल वमन अथवा केवल दस्त का ही अधिक वेग होता है। उसमें इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि जिसका अधिक उपद्रव हो, उसी की पहले चिकित्सा की जाय।

(२) यदि अधिक दस्त आते हों तो अजवाइन, कपूरकचरी और सौंफ चार-चार रत्ती, पुदीना पाँच पत्ती, लौंग दो भूनकर, जायफल दो रत्ती, भाभीरंग दस दाने और एक बड़ी इलायची का छिलका जलाकर, सौंफ के अर्क के साथ पीसकर यों भी पिलाने से लाभ होता है। विशेष लाभ के लिए इसके साथ अभ्रक-भस्म अथवा वृहद्वातचिन्तामणि रस की आधी या एक रत्ती की मात्रा दी जानी चाहिए।

शीत आदि उपद्रवों की दशा में पान अथवा तुलसी के रस में एक बड़ी इलायची का छिलका जलाकर, एक मोरपंख जला-कर और थोड़ा जायफल घिसकर हिरण्यगर्भपोट्टली रस अथवा अभ्रक और विसूचिकान्तक रस की एक रत्ती की मात्रा लाभ-दायक है। उपर्युक्त नं० १ अनुपान के साथ विसूचिकान्तक रस, अभ्रक-भस्म और रामवाण का मिश्रित योग भी अतीव लाभकारी सिद्ध हुआ है। यह अन्तिम औषधत्रय का योग वमन और दस्त दोनों के लिए लाभकारी है।

सोंठ, मिर्च, पीपर और नौसादर के समभाग चूर्ण की दो माशे की मात्रा फँकाकर ऊपर से नं० २ वाला अनुपान अथवा केवल सौंफ का अर्क पिलाना चाहिए। केवल इसी चूर्ण के सहारे भयंकर-से-भयंकर विसूचिका रोग नष्ट किया जा सकता है। किन्तु धैर्य की आवश्यकता है। संजीवनी वटी भी सोंठ, कालानमक और सौंफ के अर्क के साथ लाभदायक है।

अर्कादि वटी, कर्पूरादि वटी, हिंग्वादि-वटी और महाशंख वटी भी नं० २ अनुपान के साथ अथवा चूने के पानी या सौंफ के अर्क के साथ लाभदायक हैं। बृहत्कस्तूरी भैरव रस अनार के रस अथवा सौंफ के अर्क के साथ आश्चर्यजनक लाभ करता है। किंतु इस औषध के साथ अनार के रस का विशेष प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा इस दवा की उष्णता सहन नहीं हो सकती। चूने का पानी भी इस रोग के लिए बड़ा लाभदायक है। किसी भी दवा

के साथ बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा चूने का पानी भी पिलाने से लाभ होता है। चूना पाचनशक्ति बढ़ाने के साथ-ही-साथ कृमिनाशक भी है।

आधुनिक समय में अर्ककपूर और अर्कपुदीना का प्रयोग अत्यधिक होता है, इससे लाभ भी होता है; किन्तु ये प्रयोग कभी-कभी विशेष हानि भी कर देते हैं। अर्ककपूर से दस्त और कै आना शीघ्र बन्द हो जाता है और विषाक्त पदार्थों एवं दोषों का निर्गम नहीं होता। कभी-कभी इससे अच्छे हुए रोगी एकाएक मृत्युमुख में चले जाते हैं। अर्कपुदीना के विषय में ये बातें नहीं हैं; किन्तु उससे शीघ्र लाभ नहीं होता और केवल उसी के सहारे रहने से रोग की दशा भयंकर हो जाती है। यही बात उस पानी वाले इंजेक्सन की है। पंचान्नवे प्रतिशत रोगी इससे लाभ नहीं उठाते। जो इससे अच्छे हो भी जाते हैं, उन्हें बार-बार इसके प्रकोप से कष्ट उठाना पड़ता है। अन्त में जिस समय वे आरोग्य लाभ कर लेते हैं, उस समय उनके शरीर की दशा ठीक मेंढक-जैसी हो जाती है।

सर्वसाधारण के लिए भी निम्नलिखित औषधियाँ हैं—(१) नीबू और प्याज का रस समभाग मिलाकर पीने से लाभ होता है। (२) अजवाइन की पत्ती, सोंठ, कालानमक, कालीमिर्च और नौसादर एक में पीसकर खाना चाहिए। (३) गूलर का रस भी लाभदायक है। (४) आम की मौर, दही के साथ पीस-

कर चटाएँ। (५) इमली और भिलावाँ जलाकर प्याज के रस के साथ देने से विसूचिका के कृमि नष्ट हो जाते हैं। (६) लिसोड़े की छाल और चणकक्षार पानी में पीसकर देने से भी लाभ होता है। (७) बेल और सोंठ के काढ़े से भी लाभ होता है। ऐसे ही (८) पुदीना और सौंफ का अर्क पीने से भी लाभ होता है।

जब तक पूर्णरूप से दोष पच न जायँ, तब तक किसी भी चीज का पथ्य न दिया जाय। किन्तु बड़ी सावधानी से इस बात का भी ध्यान रक्खा जाय कि भूख लगने पर कुछ-न-कुछ पथ्य अवश्य दिया जाय; क्योंकि उस समय कुछ भी आधार न मिलने से जठराग्नि तो नष्ट होती ही है; साथ ही वायु कुपित होने पर रोगान्तरों के लिए कारण पैदा हो जाता है।

अब विसूचिका के बाद अलसक और विलम्बिका का भी रूप देख लेना चाहिए। अलसक में—कोख में तनाव, अज्ञानता, कूँथना, वायु का गोले के समान बनकर कोख की ओर जाना, अपान-वायु और दस्त का एकदम रुक जाना; आदि लक्षण होते हैं। किसी-किसी को अपानवायु-सरण-सा अनुमान होता है; किंतु उसके साथ दस्त हो जाता है, अलग से वायुनिस्सरण नहीं होता। प्यास अधिक लगती और डकार आया करती है।

इसमें सोंठ, मिर्च, पीपर और नौसादरवाला चूर्ण उपर्युक्त विधि के अनुसार तथा अर्कादि और कर्पूरादि बटी आदि का प्रयोग भी उसी प्रकार लाभदायक है। जल और पथ्यापथ्य की व्यवस्था

विसूचिका के समान ही होनी चाहिए। इसमें भी अजीर्ण प्रधान है।

विलम्बिका में—कफ और वायु के कारण दस्त और कै दोनों होते हैं। यह कष्ट के साथ चिकित्सा करने योग्य है। इसकी सम्पूर्ण चिकित्सा, उपचार और पथ्यापथ्य विसूचिका की भाँति होना चाहिए। यह विलम्बिका रोग दीपन और पाचन औषधियों से ही शीघ्र शान्त होता है।

प्लेग

नाम छोटा; किन्तु भयंकरता महान है। इसी रोग ने असंख्य माताओं की गोद खाली की, सतियों का सौभाग्य-सिंदूर मिटाया और जहाँ प्रवेश किया, वहीं सर्वनाश का डंका बजाया। इसी की कृपा से कितने हँसते-खेलते लाल, काल के कराल गाल में समा गए। दुर्भाग्यवश यदि किसी प्रिय स्वजन को इस व्याधि का संवाद सुनाई पड़ जाता है, तो वह एक ठंढ़ी-सी आह खींचकर सन्न हो जाता है। चाहे वह चंगा ही क्यों न हो जाय; किंतु उस समय यही भासित होता है कि अब इसका वियोग सहना ही पड़ेगा।

आयुर्वेद में इसका विवरण ग्रंथिकमहामारी निदान में मिलता है। किंतु डाक्टरों का कथन है कि—"यह रोग भारतवर्ष में, प्रायः तीन सौ वर्ष के लगभग हुए, प्रथम बार देखा गया था।"

किंतु निदान के उद्धरण से यह साफ मालूम होता है कि उनका इतिहास गलत है।

ग्रीवायां सन्धिदेशेषु जानुकक्षासु ग्रंथयः।
जायन्ते शोथसहिता ज्वरोऽस्यां सान्निपातिकाः॥ १॥
स्वान्ते पीडा वमिर्वै भवति विकलता सर्वगात्रेऽतिपीडा,
श्वासाधिक्यं स्वजीर्णवचनशिथिलता शुष्कतास्यौष्ठतालौ।
जिह्वाशोथप्रलापो वपुषि गतबलत्वं तृषा चात्र तीव्रा;
निद्रानाशत्वमस्यां भवति दिननिशं मूत्रबन्धः कदाचित्॥ २॥
अन्तर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तुं प्रशक्यते।
पीता रक्ता श्यामवर्णा जायन्ते ग्रंथयः सदा॥ ३॥

अर्थात्—गर्दन, जाँघ और काँखों की संधियों में शोथयुक्त ग्रंथि होती है। साथ ही सान्निपातिक—अर्थात् त्रिदोषज ज्वर होता है। ग्रंथियों में पीड़ा, वमन, विकलता, संपूर्ण शरीर में अत्यंत पीड़ा, श्वास की अधिकता, अजीर्ण, वाणी-शैथिल्य, तालु एवं ओष्ठ का सूखना, जिह्वा-शोथ, प्रलाप, शरीर का बल-नाश, अत्यंत तीव्र तृषा, निद्रानाश और दिन-रात में किसी समय मूत्र निःसरण होता है। साथ ही इस रोग में अंतर्दाह होता है, और रोगी बोलने में एकदम असमर्थ हो जाता है। ग्रंथियाँ सदैव पीली, लाल एवं श्यामवर्ण की होती हैं।

उपर्युक्त उद्धरण से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि डाक्टरों का कथन सत्यता से कितना परे है। यह आयुर्वेद के एक प्राचीन

ग्रंथ का उद्धरण है, जिसकी रचना आज से कई हजार वर्ष पूर्व की मानी जाती है। बस, इतने ही से पुष्टि हो जाती है कि डाक्टरों का इतिहास माननीय नहीं है। किंतु उनकी एक बात अवश्य माननी पड़ेगी। वह है कीटाणुओं का विषय। इस विषय में केवल उनके मस्तिष्क की उपज नहीं मानी जा सकती; क्योंकि अनादि वेदों में भी रोग-कीटाणु माने गए हैं। अस्तु। "सर्वे रोगा मलाश्रिताः" की उक्ति से भी यह स्पष्ट है कि मल के आश्रित होकर ही संपूर्ण रोग पैदा होते हैं। यहाँ 'मल' शब्द से वात, पित्त, कफ और विष्ठा दोनों का ग्रहण किया गया है। यह निश्चय है कि ग्रहणी आदि अतिसरण की व्याधियों को छोड़कर समस्त व्याधियाँ प्रायः पेट की खराबी से ही होती हैं।

जिस समय मल पेट में रुकेगा, उस समय यह निश्चित है कि वह सड़ेगा और उसमें कीड़े अवश्य पड़ेंगे। जिसकी उत्पत्ति है, उसका कुछ कार्य भी है। अस्तु वे कीड़े रक्त-वाहिनी स्रोतसों में जाकर रोग पैदा करते हैं। यदि बलवान् होते हैं तो महान् व्याधि पैदा करते हैं, अन्यथा थोड़ा-बहुत विकार पैदाकर शांत हो जाते हैं। बद्धकोष्ठता भी दूषित जल-वायु के कारण ही पैदा होती है। इसीलिए इधर-उधर पेशाब करना, रास्ते में थूकना, कूड़ा-करकट फेंकना एवं घर की मोरी आदि साफ न रखना स्वास्थ्य के लिए खराब माना गया है; क्योंकि यही सब कीटाणुओं के जनक हैं। प्रायः लोगों के घरों में देखा जाता है कि बर्तन मलने के बाद

जो कुछ धोने में उच्छिष्ट अन्न बच रहता है, वह अन्त में पनाले में छोड़ दिया जाता है। वही अन्न कुछ दिनों में धीरे-धीरे चूहों को घर में प्रश्रय देता है। साथ ही यह भी देखा जाता है कि घर की बूढ़ी स्त्रियाँ इस व्यवहार को बहुत ही बुरा समझती हैं, और यदि उनके सामने किसी प्रकार पनाले में अन्न चला जाता है, तो उसके लिए वे बड़ा खेद प्रकट करती हैं। वे इसे धार्मिक रूप देकर ऐसा करती हैं; किंतु इसका वास्तविक तत्त्व उपर्युक्त ही है। चूहों को घर में रहने देना वास्तव में रोग बुलाना है; क्योंकि प्लेग का आक्रमण सबसे पहले चूहों पर ही होता है। चूहे अधिक तर गंदे स्थान में ही रहते हैं। उनके बिल प्रायः पनालों के अन्दर ही मिलेंगे। प्रथम बार जब किसी गाँव या शहर में प्लेग आता है, उस समय चूहों का मरना आरंभ हो जाता है। चूहों के शरीर को पिस्सू नोचते और उनका रक्त चूसते हैं। कितने बिल के भीतर ही मर जाते हैं, और कितने अर्धमृत अवस्था में बाहर निकल कूदते और मरते हैं। जिस चूहे पर प्लेग का आक्रमण हो जाता है, वह फिर भगाने पर भी तेज नहीं भाग सकता एवं थोड़ी देर में मर जाता है। उसके मरने पर उसके शरीर से प्लेग के सूक्ष्म कीटाणु झट बाहर निकलकर फैल जाते हैं। वे ही कीटाणु रोमकूपों-द्वारा या अन्य किसी प्रकार भीतर जाकर मानव-रक्त में मिल जाते हैं।

दूसरे, जो चूहे बिल में ही मर जाते हैं, उनका बचा-बचाया

शारीरिक तत्त्व वे पिस्सू चूस लेते हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि बीमारी की हालत में भी वे पिस्सू उनका रक्त चूसा करते हैं। मरने पर भी ये, विष अपने में खींच लेते हैं, और वहाँ से निकलकर लोगों के शरीर पर बैठते और काटते हैं। अस्तु। इनके द्वारा वह विष मानव-शरीर में प्रवेश करता है। बस, इन्हीं दो कारणों से मानव-शरीर में प्लेग के कीटाणुओं की सृष्टि होती है। अब यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्यों इतने बड़े मनुष्य-शरीर में केवल छोटे कीड़ों के प्रवेश एवं पिस्सुओं के काटने-मात्र से विष फैल जाता है और मरणावस्था झट उपस्थित हो जाती है ? जिस प्रकार मनुष्य की यह दशा होती है, उसी प्रकार उस पिस्सू को भी मर जाना चाहिए ! किंतु नहीं, पिस्सू कदापि मर नहीं सकता; क्योंकि उसके ऊपर इन विषों का किसी प्रकार से प्रभाव नहीं होता; बल्कि वे उस विष को शरीर में प्रविष्ट कर अच्छा खून चूस लेते हैं।

इन्हीं पिस्सुओं और चूहों-द्वारा प्लेग एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचता है। कभी-कभी ये पिस्सू किसी के कपड़े पर बैठकर अथवा किसी गंदी-सड़ी चीज, जैसे—सड़े फलों, मिठाइयों एवं सड़ी भाजी, सब्जी अथवा कूड़े-करकट के साथ दूसरे स्थान में पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार कम विषवाला चूहा कभी-कभी धीरे-धीरे रेंगता हुआ दूसरे स्थान पर पहुँच जाता है। इन्हीं के द्वारा सर्वत्र इसे प्रसार मिलता है।

बहुत लोगों की यह भी धारणा होगी कि प्लेग संक्रामक है, एक से दूसरे के पास पहुँचता है, अतएव उससे किसी प्रकार का संसर्ग न होना चाहिए; किंतु उनकी यह धारणा नितांत भ्रामक है। वह रोगी बेचारा रोग नहीं फैलाता; बल्कि जहाँ इस रोग का प्रकोप रहेगा, वहाँ असंख्य कीटाणु रहेंगे। फिर दूसरा उनके आक्रमण से कैसे बच सकता है? अतएव उस रोगी की परिचर्या में भ्रमवश किसी प्रकार की कमी करना अनुचित है। इन कीटाणुओं के विषय में एक अँगरेज का कथन है—"एक बार योरप में एक महिला को प्लेग हो गया था। जब उसका कारण खोजा गया, तो मालूम हुआ कि उसके शृंगार के टेबुल के भीतर एक चूहा मर गया था। उसी से उसे प्लेग हो गया था।" इस-लिए इस बात का भी पूरी तरह ध्यान रखना चाहिए कि किसी जगह चूहा मरकर सड़ने न पावे; क्योंकि उस महिला पर प्लेग का आक्रमण असमय में केवल चूहे के कारण ही हुआ था।

जिस समय प्लेग का प्रकोप होता है, उस समय प्रायः "पबलिक हेल्थ डिपार्टमेंट" की ओर से नलों, घरों अथवा ऐसे स्थानों पर जहाँ पेशाब करने या किसी प्रकार की गंदगी का संदेह होता है, चूने (लाइम) की बुकनी छोड़ दी जाया करती है। यह वास्तव में बड़ा लाभ पहुँचाती है। इससे वे रोगोत्पादक कीटाणु झट मर जाते हैं। यदि सामान्य गृहस्थ अपने घर के पनालों को धोकर उसके आस-पास थोड़ा चूना छोड़ दिया करें,

तो इस बीमारी के आक्रमण से वे बहुत कुछ त्राण पा सकते हैं। यदि किसी जगह बीमारी का आक्रमण हो, तो उससे एकदम घबराकर शिथिल न हो जाना चाहिए। हिम्मत रखनी चाहिए और नीचे लिखे नियमों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

प्रतिदिन ओढ़ने, बिछाने और पहनने के सब कपड़े धूप में थोड़ी देर तक रख दिये जायँ। सब कपड़े साफ़-सुथरे हों। घर हर तरह से साफ रक्खा जाय। किसी प्रकार की गंदगी न रहे। यदि कमरे की जमीन कच्ची हो तो चूने का उपयोग किया जाय। हर हालत में चाहे जमीन कच्ची हो या पक्की—जूते या खड़ाऊँ से काम लिया जाय; क्योंकि ऐसा न करने से कीड़े शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। भोजन सदैव घर का बना हुआ किया जाय। बीमारी के दिनों में बाजार की बनी हुई कोई चीज व्यवहार में न लाई जाय। फल और शाक सब अच्छे और यथासम्भव ताजे खरीदे जायँ। किफायत के खयाल से सड़ी-गली चीजें न खरीदी जायँ।

उपर्युक्त नियमों के पालन से यकायक और भयंकर रूप से प्लेग का आक्रमण नहीं हो सकता "संयमी नावसीदति" के अनुसार संयमी कभी दुःख को नहीं प्राप्त हो सकता। मनुष्य के लिए संयम बहुत ही आवश्यक है।

इस रोग के लक्षण तो पहले बताए जा चुके हैं, किंतु अब तक उनका विवेचन नहीं हुआ है। अस्तु। प्रथम जब इस रोग का आक्रमण होता है, तब कान की जड़ें, काँख अथवा वंक्षण

अर्थात् जाँघों की जड़ में शोथयुक्त ग्रंथि होती है। इसके विषय में यह भी मान लिया गया है कि इस रोग के कीटाणु उपर्युक्त स्थानों में पहुँच कर रक्त इकट्ठा करके गाँठ पैदा कर देते हैं। ग्रंथि के साथ ही झट सान्निपातिक अर्थात् त्रिदोपज ज्वर हो जाता है। बाकी उपद्रव पूर्व कथनानुसार ही होते हैं। अब यह भी विचार करना आवश्यक है कि किस प्रकार इसकी चिकित्सा और कैसी परिचर्या होनी चाहिए।

इस रोग में रक्त का संचार इतनी तेजी से होता है कि रोगी का एक-एक अंग फटने-जैसा मालूम होता है। सिर में तो भयंकर पीड़ा होती है। कभी-कभी ज्वर की तीव्रता के कारण भी ऐसा होते देखा गया है। इसमें ज्वर का तापमान १०५ के ऊपर भी पाया जाता है। आँखें रक्त-वर्ण हो जाती हैं। हृदय की गति महान् तीव्रतर होने से यकायक बन्द हो जाने अर्थात् "हार्टफेल" होने का बहुत बड़ा भय रहता है। सम्पूर्ण रक्त के विषव्याप्त होने से फेफड़ों को स्वच्छ रक्त नहीं मिलता। कभी मेदस्वी को यदि यह हो जाता है, तो उसका बचना नितांत असंभव-सा हो जाता है। कारण ज्वर का वेग और रोग का विष सम्पूर्ण शरीर के मेद को पिघला देता है। कफ भी पिघलकर अपना स्थान छोड़ देता है, अथवा कभी सूख जाता है। अतएव इन कारणों से भी हृदय बहुत ही कमजोर हो जाता है। इसलिए इस रोग में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाय कि किसी प्रकार हृदय न कमजोर होने पाए।

तीक्ष्ण, उष्ण, शीतल, अधिक पसीना लानेवाली औषधियाँ, दस्त लानेवाली औषधियाँ एवं क्षार पदार्थों का प्रयोग न करना ही श्रेयस्कर है। किंतु भूलकर भी पसीना और दस्त लानेवाली औषधियों का तो उपयोग कदापि न किया जाय। इन औषधियों के सेवन से बलवान् हृदय भी अति निर्बल हो जायगा। उस अवस्था में सँभालना महान् दुरूह हो जाता है। इस ज्वर की चिकित्सा भी सन्निपात-ज्वर की भाँति ही होनी चाहिए। इसमें विशेष विचार हृदय का है। मकरध्वज, हिरण्यगर्भ, बृहत्वातचिंतामणि अलग-अलग अथवा मिश्रित ही पान, आर्द्री अथवा तुलसी के रस के साथ, किसी भी चीज की एक रत्ती की मात्रा अथवा मिश्रित ही एक रत्ती की मात्रा देनी चाहिए। पित्ताधिक्य में अकेले क्षीर-पुटित सहस्रपुट अभ्रक की या अभ्रक और महाज्वरांकुश-रस की उपर्युक्त अनुपान के साथ एक रत्ती की मात्रा दी जानी चाहिए। दोषों के पाचन पर ही, पथ्य की व्यवस्था श्रेयस्कर होती है। कभी-कभी कुछ लोग ज्वर की तीव्रता देखकर रक्त-संचार कम करने के लिए ठंढे जल और बर्फ का उपयोग करते हैं; किंतु यह अत्यंत हानिकारक है, इससे रोगी की अवस्था अत्यंत शीघ्र शोचनीय हो जाती है। हृदय की कमजोरी के कारण किसी-किसी के मतानुसार चिउड़ा का माँड़ दिया जाना चाहिए; परन्तु मैंने स्वयं इससे हानि होते देखा है। चिउड़े का माँड़ कफ बढ़ा देता है और कफ बढ़ जाना इस रोग के लिए अत्यंत हानि-

कारक सिद्ध हुआ है। अतएव इस रोग में दोनों बातों का ध्यान रक्खा जाय। कभी गलती से ठंढे पानी, बर्फ और चिउड़े के माँड़ का व्यवहार न किया जाय। पीने का जल भी गरम करके ही दिया जाय, ठण्ढे का संसर्ग रोगी से न होना चाहिए। जाड़े में सर्दी से रोगी की विशेष रक्षा करनी चाहिए। गरमी और बरसात में भी बाहर की शीतल वायु न लगनी चाहिए। किंतु सभी मौसमों में स्थान ऐसा रहे, जहाँ हवा बराबर दूसरी ओर रोगी को लगे बिना निकल जाय। जाड़े के दिनों में यदि उस कमरे में धूप आए तो, अधिक लाभप्रद है। किन्तु गरमी, बरसात और जाड़े सभी मौसमों में रोगी के कपड़े धूप में प्रतिदिन सुखा लिये जाया करें। कपड़े गंदे न हों।

ज्वर के बाद ग्रंथि की भी चिकित्सा अत्यंत आवश्यक है। इसकी चिकित्सा खूब ध्यान लगाकर करनी चाहिए, जिसमें ग्रंथि अपने रूप से उत्तरोत्तर घटती ही जाय। यदि भयंकरता के कारण न्यूनता असम्भव हो, तो वृद्धि भी सम्भव न होनी चाहिए। ग्रंथि को इस प्रकार बाँधकर रखना चाहिए, जिसमें हवा न लगने पाए। ग्रंथि पर विष-चिकित्सा से बड़ी सफलता मिलती है; किंतु वह बहुत बड़े सिद्धहस्त एवं कुशल वैद्य से ही हो सकती है। बहुत-से लोग अज्ञानवश ग्रंथि पर भिलावा आदि का बर्बर-प्रयोग करते हैं। इससे कभी-कभी बड़ी हानि होती है; क्योंकि भिलावाँ आदि से तुरंत फफोले पड़ जाते हैं, और वे फूट तक जाते हैं,

जिससे उस पर पुनः दूसरी औषधि का लगाना नितांत असंभव हो जाता है। और दवा बिना, ग्रंथि बढ़कर प्राण ले लेती है। इसलिए इस पर अफ़ीम, कुचिला, बच्छनाग, जहरमार का बीज, चीता की जड़, वायबिडंग और कालीगोरी गाय के मूत्र में पीस कर गरम करके, गरम-गरम, दिन में पाँच-सात बार लेप करना एवं कंडे को जलाकर दूर से उसे सेंकना चाहिए। लेप छुड़ाने के लिए जल या किसी जलीय अंश के पदार्थ का उपयोग न करना चाहिए। यों ही धीरे-धीरे छुड़ा देना चाहिए। ग्रंथि पर लेप लगाने के विषय में एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए। ज्यों-ज्यों ग्रंथि कम होने लगे, त्यों-त्यों लगाने की संख्या में बराबर कमी करते रहना चाहिए; अन्यथा रोग का विष कम हो जाने पर इस लेप से भी छाले पड़ जाते हैं। कभी-कभी बराबर चिकित्सा करते रहने पर भी ग्रंथि नहीं बैठती और रोग अच्छा हो जाता है।

वह रुग्णावस्था में ही धीरे-धीरे पकने लग जाती है। जिस समय किंचित् पाक के लक्षण प्रकट होने लगें, उस समय उस पर पुल्टिस बाँधनी चाहिए। अलसी, अरहर की दाल अथवा नीम की मुलायम पत्तियाँ पीसकर, सेंधानमक मिला के गरम कर ले और गरम-गरम ग्रंथि पर बाँधे। एकदम पक जाने पर वह स्वतः फूट जाती है। यदि स्वतः न फूटे, तो शस्त्र-चिकित्सा करानी चाहिए। किंतु शस्त्र-चिकित्सा के विषय में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि अच्छी तरह पके बिना कदापि न चीरे

जाय। और चीरने के बाद अच्छी तरह मवाद साफ कर दिया जाय। जरा-सा मवाद रह जाने पर अन्यत्र विष भी फैल सकता है और नासूर भी हो जा सकता है। यदि वह अपने से भी फूट जाय और भीतर मवाद के शेष रहने का सन्देह हो, तो उसे चिरवाकर साफ करा देना चाहिए।

प्लेग-रोग की चिकित्सा में कदापि विलंब न करना चाहिए। इस रोग में, क्षण में और-का-और हो जाता है। यदि अपनी चिकित्सा से लाभ न हो, तो अविलंब किसी भी योग्य चिकित्सक से चिकित्सा करानी चाहिए।

अनुभूत-प्रयोग

धातु-पुष्टि—प्रतिदिन संध्या समय, औटाए हुए गरम दूध में एक तोला मिश्री और एक तोला सतावर का चूर्ण मिलाकर पीना चाहिए।

अजीर्ण—हो, तो नीबू के रस में केसर घोटकर चाटना चाहिए।

बालकों का पेटदर्द—तीन वर्ष तक के बालक के पेट में यदि दर्द, आम तथा अजीर्ण हो, तो एक माशा धनियाँ, एक माशा सोंठ, एक छटाँक जल में पकाया जाय और एक रुपए भर जल बाकी रहने पर छानकर पिलाया जाय।

भूत—लगने से ज्वर आ गया हो, तो उसके कानों में "हुरहुर" की जड़ रखने से तुरत अच्छा हो जाता है।

शीतला की गर्मी—यदि मालूम हो, तो एक तोला धनियाँ, एक तोला सफेद जीरा, शाम को एक पाव पानी में भिगोकर प्रातः काल उसी पानी से पीस-छानकर दो तोले मिश्री मिलाकर पीने से गरमी शान्त हो जाती है। कम-से-कम एक सप्ताह अवश्य पीना चाहिए।

अंड-वृद्धि—छोटी इन्द्रायण की जड़ खूब महीन पीस कर एरण्ड-तैल में उसे थोड़ी देर तक घोंटकर दिन में तीन-चार वार लगाया जाय। सुबह-शाम दो माशे इन्द्रायण का महीन चूर्ण फाँककर ऊपर से एक पाव गाय का दूध पीना चाहिए।

आँव, खून के दस्त—प्याज को पीसकर पाँच-छः वार पानी से धोकर छः माशा, एक छटाँक गाय के दही के साथ खाने से लाभ होता है। इसे दिन में तीन-चार वार खाना चाहिए।

मुख के छाले—कबाबचीनी तथा मिश्री मुँह में रखकर उसका रस चूसना चाहिए।

खूनी ववासीर—करैले के पत्तों का रस अथवा करेले का ही रस दो तोले, छः माशे मिश्री मिलाकर दिन में तीन वार पीना चाहिए।

ताप तिल्ली और यकृत—में एक तोला सरफोंका के पत्तों को दो तोले दही के पानी के साथ पीसकर चाटना चाहिए।

कण्ठ-माला—चिचिड़े की जड़ पान में खाने तथा गले में लगाने से लाभ होता है।

गले का दर्द—धनियाँ और मिश्री चबाना चाहिए।

खुजली—सफेद राल का महीन चूर्ण दो तोले, मैनसिल तीन माशे, पारा तीन माशे, सबको एक छटाँक सरसों के तेल में घोट लें फिर उसे बासी पानी से चालीस बार धोकर बदन में लगाना चाहिए।

कान की पीड़ा—बन्दूक की बारूद दो रत्ती, तिल का तेल एक तोला, पकाछानकर कान में छोड़ने से पीड़ा बन्द हो जाती है।

सिर का दर्द—यदि गरमी या खुश्की के कारण सिर में दर्द हो, तो बकरी का मक्खन मलना चाहिए।

कान में कीड़ा—यदि घुस गया हो, तो मकोय के पत्तों का रस छोड़ना चाहिए।

आधा शीशी—केसर को घी में घोटकर नास लेने से अथवा पुराने गुड़ या खोवा के साथ एक रत्ती कपूर मिलाकर खाने से आधे सिर का दर्द आराम हो जाता है।

दद्रु—सुहागा, नैनियाँ गंधक, मैनसिल, तूतिया, मिश्री, कच्ची राल, नौसादर, सोरा, खैर, सबको बराबर भाग नीबू के रस के साथ घोटकर मलहम बना करके खूब खुजला कर दिन में दो-तीन बार लगाना चाहिए।

रक्त-स्राव—एक तोला सफेद राल, एक तोला खाँड, एक तोला मोचरस, एक रत्ती अफीम, सबको महीन पीसकर दही के

साथ दिन में तीन वार खाना चाहिए। रक्त-प्रदर के लिए भी यह अच्छी दवा है।

आँख की फूली—वड़ के दूध में कपूर घिसकर आँजने से आँख की फूली कट जाती है।

आँखों की जलन—शहद में केसर घिसकर आँखों में आँजने से जलन नष्ट होती है।

रतौंधी—गाय के गोवर के रस में छोटी पीपल घिसकर आँजने से लाभ होता है।

नेत्र-रोग—त्रिफला (हर, वहेड़ा, आँवला) का चूर्ण छः माशे, एक तोले घी में मिलाकर खाना चाहिए। सब प्रकार के नेत्र-रोग नष्ट होते हैं।

आँव के दस्त—प्याज के रस में एक रत्ती अफीम मिलाकर खाना चाहिए।

हिचकी—चार रत्ती पीपल का चूर्ण, शहद के साथ चटाना और आम की सूखी पत्ती चिलम में भरकर उसका धूम्र पीना चाहिए।

हिचकी-वमन—मोर के पंख की राख एक माशे, छः माशे शहद के साथ चाटना चाहिए। गरम-गरम चावलों में घृत मिलाकर खाने से भी लाभ होता है।

दन्त-पीड़ा—वाय विडंग के दाने चिलम में भरकर पीना चाहिए। पीने के पश्चात् यदि लार टपका दी जाय तो लाभ होता है।

वालामृत—तीन माशे ताजे गाय के दूध में एक कालीमिर्च

घिसकर तीन माशे गाय का ताजा मक्खन, तीन माशे शहद और तीन माशे मिश्री मिलाकर सेवन कराना चाहिए।

तिजारी—ज्वर आने से दो घंटे पूर्व छः माशे कायफल का चूर्ण गरम-गरम जल के साथ खाना चाहिए। तीन बार सेवन करने से तिजारी छूट जाती है। इसके छूट जाने पर भी तीन दिन तक सेवन करना चाहिए।

सिर-दर्द—सेंधानमक जल में बारीक पीसकर दो-दो बूँद आँखों में छोड़ना चाहिए। इससे एकही बार में दर्द नष्ट हो जाता है।

बिच्छू—सेंधानमक जल में महीन पीसकर जिस तरफ बिच्छू ने काटा हो, उसी तरफ कान में छोड़ दें और काटे हुए स्थान पर भी थोड़ा-सा लगा दें।

शीत-पित्त—छः माशे आदी का रस और एक तोला पुराना गुड़ मिला कर दिन में तीन बार सेवन करना चाहिए।

अण्डकोश की खुजली और दद्रु रोग—सफेदा दो तोले, भुनी हुई फिटकिरी छः माशे, भुना हुआ चौकिया सोहागा छः माशे, तिल का तेल दो तोले, मोम देशी पाँच माशे सबसे पहले मोम और तेल को एक में पकाकर ठण्ठा होने पर सब चीजों को महीन पीसकर घोटें। पश्चात् व्यवहार करें। इसके सेवन से तीन दिन में अवश्य लाभ होता है।

सबलवायु—सफेद कनेर या पीली कनेर की जड़ एक तोला लेकर पाँच सेर भैंस के दूध में दोलायंत्र से पकाएँ। आधा दूध

जल जाने पर उस जड़ को निकाल कर फेंक दें, और उस दूध का दही जमा दें। बाद उसे मथकर मक्खन निकाल लें। वही मक्खन सिर में मालिश करें।

सबलवायु—एक बड़ी इलायची भूनकर, दो रत्ती कपूर, एक रत्ती गोदन्तीहरताल भस्म; सबको मिलाकर शहद से चाटना चाहिए। दिन में तीन बार।

खाँसी—सेंधानमक दो तोला, आक के फूल दो तोला, काली-मिर्च दो तोला; सबको महीन पीसकर जल में गोली बनाकर दिन में तीन-चार गोली मुँह में रखकर उसका अर्क चूसना चाहिएँ।

बिवाई—कडुवा तेल गरम करके सुहावा-सुहावा सेंक करने से बिवाई दूर होती है।

नाक-सूखना—नाक में पपड़ी पड़ती हो, तो प्रातःकाल गाय का दही और गुड़ सेवन करना चाहिए।

चूहा—यदि चूहा काट खाय, तो सिरस की जड़ को बकरे के मूत्र के साथ पीसकर लेप करना चाहिए।

वन्ध्या और रुका हुआ मासिक-धर्म—सौंफ, असगन्ध की जड़, तज, दारुहल्दी, पीपल, सब चीजें छः-छः मासे आधा सेर जल में पकाएँ एक पाव जल बाकी रहने पर छान लें और उसमें काला तिल एक तोला, पुराना गुड़ एक तोला, सोंठ छः मासे, कालीमिर्च चार मासे, भुनी हुई हींग एक माशा, भारंगी छः मासे मिलाकर पुनः पकाएँ; तीन छटाँक जल बाकी रहने पर छानकर

दो तोला प्रतिदिन प्रातः काल सेवन करना चाहिए। इसका सेवन सात दिन करने से आश्चर्यजनक लाभ होता है। गर्भधारण करने की शक्ति भी आ जाती है।

मुहाँसे—यदि युवावस्था में मुँह पर मुहाँसे निकल आएँ तो दूध में जायफल घिसकर मुँह पर लगाना चाहिए।

हैजा—प्याज का रस एक-एक तोला थोड़ी-थोड़ी देर में पिलाना चाहिए।

बिच्छू के काटने पर—घी में सेंधानमक, अथवा कनेर की जड़ घिसकर लगाना चाहिए।

दन्तमंजन—सिरस को मय फल और बीज के जलाकर कोयला कर[1] ले और थोड़ा-सा सेंधानमक मिलाकर मंजन करने से दाँतों का दर्द और हिलना नष्ट हो जाता है।

फोड़ा—त्रिफलाभस्म को पानी में घिसकर लेप करने से फोड़ा शीघ्र फूट कर बह जाता है।

वात-प्रकोप—वात से उत्पन्न होने वाले रोगों में मीठी, ताजी, तर, चिकनी वस्तुएँ और घी-दूध का सेवन करना चाहिए। शरीर में तैल भी मालिश कराना चाहिए।

चोट—से यदि रक्त बहने लगे, तो पीले फूलवाली खरेंटी के पत्तों का रस निचोड़ कर लगाना चाहिए।

श्वेत कुष्ट—पर कच्चे अंजीर को पीसकर कुछ दिनों तक लगाने से लाभ होता है।

श्वास में—नौसादर का धूआँ पिलाना लाभदायक सिद्ध हुआ है।

मृगी—सफेद प्याज का रस कान में डालने तथा नास लेने से लाभ होता है।

शूल—मन्दार के फूल और सेंधानमक पीसकर पीने से नष्ट होता है।

मलेरिया—बारहसिंगा की सींग पीस कर सिर तथा हाथ पैर के बीसों नाखूनों पर लगाने से ज्वर शीघ्र उतर जाता है।

स्वरभेद—एक छटाक आँवला की गुठली एक पाँव दूध में डाल कर पकाएँ दस मिनट तक। फिर उस दूध को वस्त्र से छान-कर थोड़ी-सी मिश्री मिलाकर पी जायँ।

ज्वर में वमन होने पर—मोरपंख को जलाकर। उसका भस्म स्त्री के दूध के साथ सेवन करने से शीघ्र लाभ होता है।

ज्वर—छः माशे तुलसी के पत्तों के रस में कालीमिर्च तीन दाना पीसकर दिन में तीन बार सेवन करने से साधारण ज्वर अच्छा हो जाता है।

बवासीर—रसवत और राई को समभाग लेकर नीबू के रस में दो दिन तक खरल करके जंगली बेर बराबर गोली बना कर एक गोली प्रातःकाल और सायंकाल ताजे कुएँ के जल के साथ सेवन करना चाहिए।

शोथ में अतिसार—दशमूल, लाल पुनर्नवा, सोंठ, अतीस,

बेल-गिरी, नागरमोथा और इन्द्रयव; सबका समान भाग काढ़ा बनाकर एक रत्ती मण्डूर भस्म सेवन करना चाहिए । इससे पाण्डुरोग नष्ट होता है ।

सर्प-विष—रेवतीचीनी का सत, और रीठे की छाल सम-भाग बारीक पीस कर गोघृत के साथ मिला कर चार रत्ती की मात्रा से लेकर एक माशा तक दिन में तीन-चार बार सेवन करना चाहिए ।

रुधिर-विकार—त्रिफले का चूर्ण एक तोला, शुद्ध आमला-सार गंधक एक माशा, गुलाब का फूल एक माशा, सौंफ एक माशा, मुलहठी एक माशा और उसबा एक माशा; इन सबका चूर्ण; बराबर मिश्री मिला कर गरम दूध या जल के साथ सेवन करने से दस्त खुलासा आता है और रुधिर विकार नष्ट हो जाता है।

बालकों की खाँसी और ज्वर में—अतीस, पीपल और काकड़ासिंघी समान भाग पीस कर दो रत्ती तक शहद के साथ चटाएँ और भटकटैया के फूलों की केशर शहद में मिलाकर चटाएँ।

बालकों का मुख रोग—सफेद घुमची के पत्तों का रस, अथवा चमेली या गोंदिनी के पत्तों का रस मुँह में लगाना चाहिए ।

क्षीण गर्भ—कमलगट्टा और बादाम का हलुआ खाने से पुष्ट हो जाता है ।

सफेद बाल—सूखे आमले का चूर्ण बारीक पीस कर नीबू के रस में मिलाकर लेप करने से काले और चमकीले हो जावे हैं।

सूज़ाक—चन्दन और विरोजे का तेल समान भाग पाँच से दस बूँद तक बतासा या चीनी में टपका कर खाना और ऊपर से एक पाव दूध और पानी मिला कर अथवा केवल एक पाव पानी ही सुबह-शाम दोनों समय पीना चाहिए।

सब प्रकार की खाँसी—जवाखार एक तोला, कालीमिर्च दो तोले, छोटी पीपर दो तोले, अनार का बक्कल डेढ़ तोले, पुराना गुड़ सोलह तोले सबको महीन पीस कर छोटे बेर बराबर गोली बनाकर एक गोली मुँह में डालकर रस चूसना चाहिए।

श्वेत, रक्त और सब प्रकार के प्रदर—जंगली कपास के जड़ की छाल एक तोला और पत्ते एक तोला एक पाव पानी में पकाया जाय। एक छटाँक पानी बाकी रहने पर दो रत्ती फिटकिरी मिलाकर पीना चाहिए।

जुकाम में—अफीम और जायफल, गाय के दूध में घिस कर नाक और मस्तक पर लेप करना चाहिए।

बल-वर्द्धन—प्याज का रस एक तोला, शहद तीन माशे दोनों को मिलाकर पीना चाहिए।

कान का दर्द—सुदर्शन के पत्ते का रस गरम करके अथवा स्त्री का दूध कान में छोड़ने से लाभ होता है।

शीतज्वर—रविवार को सफेद कनेर की जड़ लाकर कान में बाँधने से लाभ होता है।

जल जाने पर—घीकुवार के भीतर का लुआब लगाना चाहिए।

मेद रोग में—दो तोले शहद, सात तोले जल में मिलाकर एक मास तक प्रति दिन प्रातःकाल पीना चाहिए।

बालकों के फोड़े—सौ बार के धोए हुए घृत में आँवले की राख मिलाकर दिन में चार-पाँच बार लगाना चाहिए।

अजीर्ण—अजमोदा, छोटी हर्र, कचूर और कालानमक सम भाग चूर्ण बनाकर तीन या चार माशे गरम जल के साथ दिन में चार-पाँच बार सेवन करना चाहिए।

अतीसार और संग्रहणी—एक नीबू के बीच में मूँग बराबर अफीम भर डोरे से बाँध कर आग पर सेंक करके सुबह-शाम चूसना चाहिए।

घाव में—चीनी, फिटकिरी, कुंकुम और खड़िया मिट्टी महीन पीसकर भर देने से आराम होता है।

दद्रु पर—करौंदा की जड़ सिरका के साथ पीसकर लेप करना चाहिए।

सौन्दर्य्य वर्द्धक—सफेद चन्दन एक तोला, बादाम की गिरी पाँच तोले, कस्तूरी दो रत्ती, गुलाब का फूल एक तोला, केसर दो माशे; कपूर चार माशे; सबका चूर्ण बनाकर चार माशे चूर्ण पानी में घोल कर मुखपर मलें और थोड़ी देर बाद पानी से धो डालें। कुछ दिन के सेवन से मुख अत्यन्त कान्तिवान् हो जाता है।

शोथ—गूलर की छाल का काढ़ा बनाकर बफारा देना चाहिए।

सर्प-विष—हुक्के का कीट घी अथवा प्याज के रस में घोल-

कर पीने से शर्तिया लाभ होता है। काटने के दस-पन्द्रह मिनट बाद ही पिलाना चाहिए।

पेशाव की जलन—एक तोला गेहूँ, एक पाव पानी के साथ शाम के समय भिगो दें, सुबह छानकर दो तोले मिश्री मिलाकर पीना चाहिए।

शरीर की दाह—बकरी के दूध में जौ का आटा और सेंधा-नमक मिलाकर उपटन करना चाहिए।

दूध कम करने के लिए—अरहर के हरे पत्तों का रस स्तनों पर लगाना चाहिए।

फोड़े पर—मसूर की दाल पीसकर गरम करके उसमें सेंधा-नमक मिलाकर बाँधने से फोड़ा फूट जाता अथवा वैठ जाता है।

रुके हुए मासिक धर्म पर—एक तोला कुलथी और एक तोला काला तिल, एक पाव पानी में पकाएँ, एक छटाँक बाकी रहने पर एक तोला पुराना गुड़ मिलाकर पीना चाहिए।

जुकाम में—भूने हुए चनों से मस्तक सेंकना चाहिए।

अन्नद्रवशूल में—कोदो का भात; दूध अथवा दही के साथ खाना चाहिए।

बहुमूत्र—बाजरे की रोटी अथवा भात, गुड़ के साथ खाने से नष्ट हो जाता है।

रतौंधी—गुवालिन के पत्तों का रस आँख में छोड़ना चाहिए।

बल और वीर्य-वृद्धि के लिए—अलसी और गोंद समभाग

घी में भूनकर और उसके बराबर मिश्री मिलाकर सुबह-शाम दो-दो तोला खाकर ऊपर से गाय का दूध पीना चाहिए।

जले हुए पर—अलसी का तेल और चूने का पानी एक में फेंटकर लगाना चाहिए।

फील पाँव पर—गोमूत्र में सरसों पीस और गरम करके लगाना चाहिए।

शरीर के चकत्तों पर—राई पीसकर लेप करना चाहिए।

अफीम का विष—आध पाव करेमू के साग का रस पिलाना चाहिए।

रक्तार्श—मूली के रस में प्रवाल भस्म सेवन करनी चाहिए।